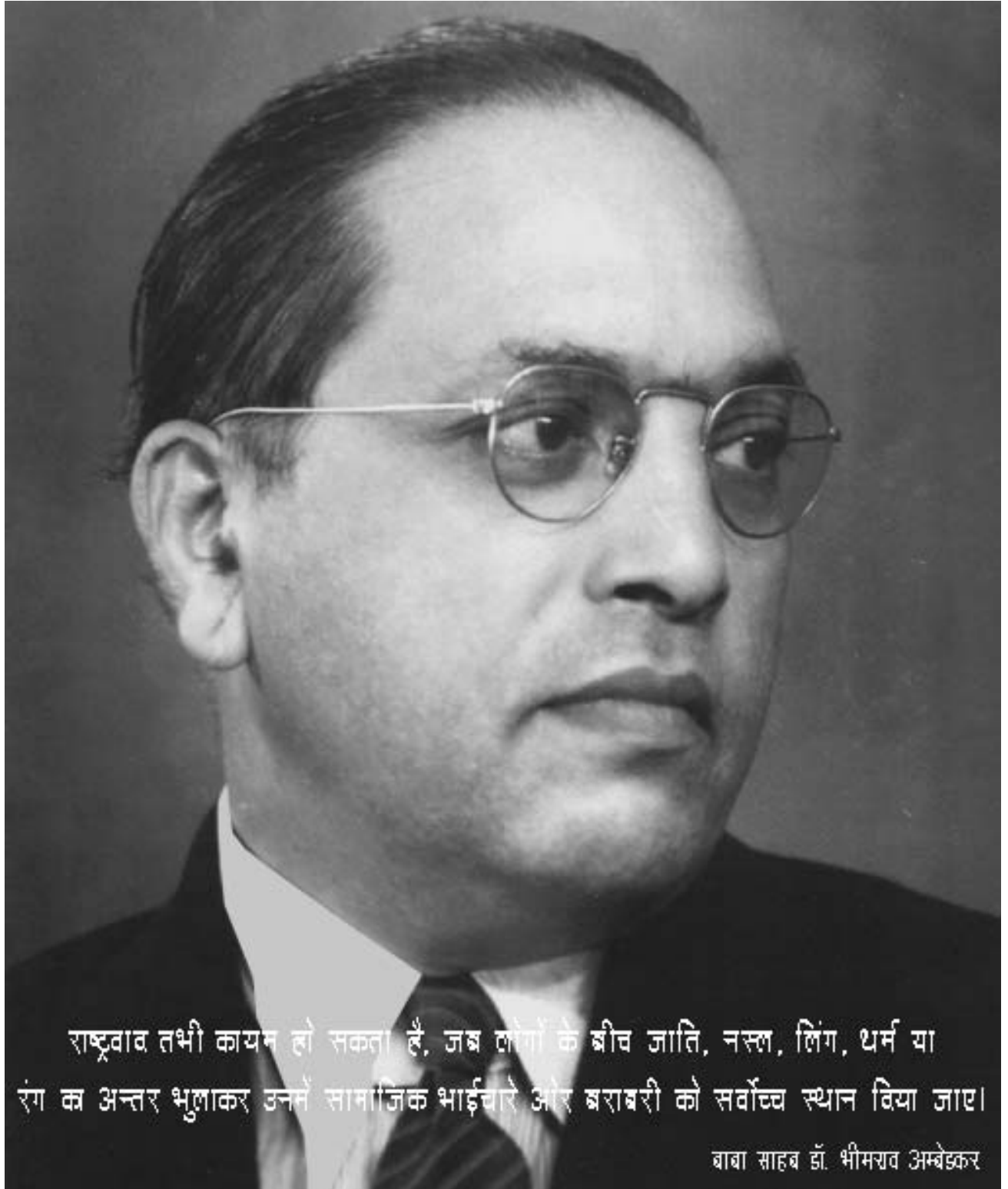


समरथ



जनवरी-अप्रैल 2016 (संयुक्तांक) ♦ नई दिल्ली



राष्ट्रवाद तभी कायम हो सकता है, जब लोगों के बीच जाति, नस्ल, लिंग, धर्म या रंग का अन्तर भुलाकर उनमें सामाजिक भाईचारे और बराबरी को सर्वोच्च स्थान दिया जाए।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर

नाहि तो जनम नसाई

सूरज गुम, रोशनी गुल, चारों तरफ नीम अँधेरा, साँस लेने को भी हवा नहीं, घुटन है चारों ओर... आकाश में धूल के बवंडर और कुछ तीखी कर्कश आवाज़ें, ये कर्कश आवाज़ें आपके पास और पास आती जाती हैं... और अचानक आप इस सपने से डर कर नींद से बाहर भाग आते हैं। पर ये तो सपना नहीं हकीकत है। हमारे समय की डरावनी हकीकत। इस दौर में कई चेहरे नक्श हो गए हैं हमारे जेहनो में। कुछ की पहचानें दर्ज हैं तो कुछ बेनिशाँ चेहरे हैं।

एक चेहरा है चमकीली, मासूम मुस्कान से रौशन - चेहरा रोहित वेमुला का जिसे पता था इस समाज में उसकी ज़िंदगी के मायने। जहाँ जन्म से मिली जाति तय कर देती है कि सारी उम्र आप किस व्यवहार और व्यवस्था के हकदार होंगे। पर फिर भी रोहित वेमुला तुम्हें ये उम्मीद तो नहीं रही होगी न कि ये मुल्क इस एज में तुम्हारी ज़िंदगी ही तुमसे माँग लेगा कि उसने तुम्हें पढ़ने-लिखने का मौका दिया। काश तुम जान पाते रोहित वेमुला कि इस मुल्क के ठेकेदारों ने दलितों, आदिवासियों की ज़िंदगियाँ रेहन पर रखी हैं और आखिर उन्हें कर्ज तो चुकाना होगा सो एक किस्त तुम्हारी भी भाई रोहित! (हम शर्मिदा हैं तुमसे)

कुछ मासूम चेहरे हैं जिन्होंने आज़ादी की बात की। उन्होंने कहा, “हमें भारत से नहीं हमें भारत में आज़ादी चाहिए, भारत में आज़ादी” आस्मान वालों को ये बात रास नहीं आई।

कुछ बेनिशाँ चेहरे हैं आग बरसाते आस्मान के तले, सूखे से चिहिराई धरती को अपने आँसुओं से तर करने की नाकाम कोशिशें करते किसानों के - विदर्भ के, बुंदेलखंड के, उत्तर प्रदेश के, बिहार के, तेलंगाना के और - और अपनी ही ज़िंदगी ढोने को अभिशप्त। ये किसान महाराष्ट्र में अपने कंधों पर अपने जानवर ढोने को भी विवश हैं ‘बोल रे श्री गैया मैया की जै, बछड़ा भैया की जै।’ सरकार बहादुर का फ़रमान है ‘जो हम कहें खाओ, जो हम कहें पहनो, जो हम कहें बोलो, जो हम कहें सोचो। जिन जानवरों को बेचकर वे सामान्य खेतिहर अपनी कुछ नगदी जरूरतें पूरी कर लेते थे - शादी-ब्याह निपटा लेते थे, मरनी-करनी बिता देते थे, दवा दारू का कुछ खर्चा निकल आता था, कुछ कर्ज चुक जाता था और चारे की कमी के मौसम में वे जानवरों से बरी भी हो जाते थे। बारिश के साथ वे फिर नए जानवर ले आते, पर अब.....? जैसा कि 17 साल के बबलू पवार कहते हैं कि सूखे और बीफ बैन के पहले बैलों की जिस जोड़ी से उन्हें 1,00,000 रुपये तक मिल सकते थे उसे वो 35,000 में भी बेचने को तैयार हैं (क्योंकि उनकी बड़ी बहन की शादी होनी है) पर फिर भी बीड पशु हाट से वे खाली हाथ वापस लौटने को मज़बूर हैं। (देखें ‘द हिंदू’ 12 अप्रैल, 2016)। हनीफ़ भाई ने अपने खिलारी बैल को बेचने की नाकाम कोशिश के बाद कहा कि इन्हें बेचना बहुत तकलीफदेह है। हमने इनकी बहुत देखभाल की पर अब इनके लिए पानी और चारे का इंतज़ाम करना असंभव है (वही...)

बबलू पवार और हनीफ़ भाई जैसे मराठवाड़ा के खेतिहर डूब रहे हैं इस धूलभरी आँधी के आगोश में।

चेहरे और भी हैं, राजस्थान में पानी में डूबा डेल्टा मेघवाल का चेहरा। डेल्टा दलित थी और उसकी हिमाकत थी कि लड़की होने और ‘दलित लड़की’ होने के बाद भी उसकी आँखों में सपने थे। क्या उन दो जोड़ी आँखों में भी कुछ सपने रहे होंगे जो हमारी सभ्यता का मल-मूत्र साफ करने मैनहोल में शहीद हो गए। पहली बार मैनहोल में उतरे ये गरीब, ‘गरीब और दलित युवक’ 23 मार्च भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु की शहादत के दिन ऐन इलाहाबाद शहर में मिथेन गैस से अपने फेफड़े नहीं बचा पाए। ये फ़ेहरिस्त तो अंतहीन है...

इन सबके बीच राष्ट्रवाद के सिपाहियों ने अपने नाखून पैने और दाँत तीखे कर लिए हैं। वे शहर-शहर, गली-गली, गाँव-गाँव घूम रहे हैं, वे जैकारे लगा रहे हैं ‘शेरावाली माता की...’, ‘सारे बोले...’, ‘जोर से बोलो...’ और जो न बोले तो बुलवाने के तरीके हैं ‘हमारे पास’।

पर इस अँधेरे दौर में भी हमारे पास है लड़ने की ताकत, लड़ने का हौसला। हमारे पास है रौशन मीनारा पुरखों के संकल्प, उनकी सीखें और उनसे आगे निकलने का जज़्बा।

आज जब हिंसक राष्ट्रवाद का दौर-दौरा है जहाँ देश की तरलता, देश की अपनाईयत का लोप हो चुका है। ऐसे में कवि गुरु टैगोर की सरलमना प्रार्थना याद आती है

देश की माटी देश का जल

हवा देश की देश के फल

सरस बनें प्रभु सरस बनें

देश के घर और देश के घाट

देश के बन और देश के बाट

सरल बनें प्रभु सरल बनें

देश के तन और देश के मन

देश के घर के भाई-बहन

विमल बनें प्रभु विमल बनें

आईए इस प्रार्थना में हम अपनी भी आवाज़ मिलाएँ।

सहस्रनाम

■ अनुपम मिश्र

ताल उल्लास की ऊंचाई को दर्शन की गहराई से जोड़ने वाले लोग पूरे जीवन को बस पानी का एक बुदबुदा मानते रहे हैं और इस संसार को एक विशाल सागर। इसमें पीढ़ियां आती हैं, पीढ़िया जाती हैं, युग आते हैं, युग जाते हैं ठीक लहरों की तरह। जीवन और मृत्यु की लहरों से लहराते इस भवसागर से पार उतारने का लक्ष्य रखने वाले समाज ने तरह-तरह के तालाब बनाए हैं और बहुत रुचि के साथ उनका नामकरण किया है। ये नाम तालाबों के गुणों पर, स्वभाव पर तो कभी किसी विशेष घटना पर रखे जाते थे। इतने नाम, इतने प्रकार कि कहीं नामकरण में भाषा का कोष कम पड़े तो बोली से उधार लेते थे तो कहीं ठेठ संस्कृत तक जाते थे।

सागर, सरोवर और सर नाम चारों तरफ मिलेंगे। सागर लाड़ प्यार में सगरा भी हो जाता है और प्रायः बड़े ताल के अर्थ में काम आता है। सरोवर कहीं सरवर भी है। सर संस्कृत शब्द सरस से बना है और गांव में इसका रस सैकड़ों बरसों से सर के रूप में मिल रहा है। आकार में बड़े और छोटे तालाबों का नामकरण पुलिंग और स्त्रीलिंग शब्दों की जोड़ियों से जोड़ा जाता रहा है : जोहड़- जोहड़ी, बंध-बंधिया, ताल-तलैया तथा पोखर-पोखरी। ये जोड़ियां मुख्यतः राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल में जगह-जगह हैं और सीमा पार नेपाल में भी। पोखर संस्कृत के पुष्कर से मिला है। और स्थानों पर गांव-गांव में पोखर थे लेकिन बंगाल में तो घर-घर पोखर हुआ करते थे। घर के पिछवाड़े में प्रायः छोटे-छोटे, कम गहराई वाले पोखर मछली पालने के काम आते थे। वहां तालाब के लिए पुष्करणी शब्द भी चलता रहा है। पुष्कर तो था ही। पुष्कर के बाद में आदर, श्रद्धासूचक जी शब्द लग जाने से वह सामान्य पोखर न रह कर एक अतिविशिष्ट तालाब बन जाता है। यह राजस्थान में अजमेर के पास

पुष्करजी नामक प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र है। यहां ब्रह्माजी का मंदिर है।

सबसे अधिक प्रचलित नाम तालाब ही है पर तालाबों के नामकरण में इस शब्द का उपयोग सबसे कम मिलता है। डिग्गी नाम हरियाणा, पंजाब और दिल्ली में चलता था।



पानी रखने के छोटे हौज से लेकर बड़े तालाब तक डिग्गी नाम मिलता है। कभी दिल्ली में लालकिले के ठीक सामने लालडिग्गी नामक एक बड़ा तालाब था। अंबाला में अभी भी कई तालाब हैं और ये डिग्गी कहलाते हैं। डिग्गी शब्द दीघी और दीर्घिका जैसे संस्कृत शब्दों से आया है।

कुंड भी हौज जैसा ही छोटा और पक्का प्रकार है, पर कहीं-कहीं अच्छे खासे तालाबों का नाम कुंड या हौज मिलते हैं। मध्य प्रदेश के खंडवा शहर में कुंड नाम से जाने गए कई तालाब हैं। हौज का उदाहरण दिल्ली का हौजखास है जो अब तालाब से अधिक एक मोहल्ले की तरह पहचाना जाता है।

ताल कई जगह हैं पर इसी से मिलता-जुलता शब्द चाल एक क्षेत्र में ही सीमित होकर रह गया। यह क्षेत्र है उत्तर प्रदेश के हिमालय का। इन पहाड़ी जिलों में कभी गांव-गांव में चाल थीं। मैदानी गांव-शहरों में ताल आबादी के बीच या पास बनते हैं लेकिन पहाड़ी गांवों में चाल गांव से कुछ दूर ऊपर बनती थीं। चालों का उपयोग सीधे पीने के पानी के लिए नहीं होता था। लेकिन इन्हीं चालों के कारण गांव के झरने वर्ष भर चलते थे। पहाड़ों में पहली तेज बरसात के वेग को झेलने, अचानक आने वाली बाढ़ रोकने और वर्ष भर पानी चलाने के लिए चालों का चलन इतना अधिक था कि गांव अपने ऊपर के पहाड़ों में 30 से 40 तक चाल बना लेते थे।

चाल कोई 30 कदम लंबी, इतनी ही चौड़ी और कोई चार-पांच हाथ गहरी होती थी। यह किसी एक किस्से के जिम्मे नहीं होती, सभी इसे बनाना जानते थे और सभी इसकी सफाई में लगते थे। ये निस्तार के काम आतीं, गांव के पशुओं के अलावा वन्य पशुओं के लिए भी पानी जुटाती थीं।

हिमालय में चाल कहीं खाल है, कहीं तोली है तो कहीं चौरा भी। आसपास के गांव इन्हीं के नाम से जाने जाते हैं। जैसे उफरेंखाल या रानीचौरा और दूधतोली। ठेठ उत्तर के ये शब्द दक्षिण तक चले जाते हैं। केरल और आंध्र प्रदेश में चौर और चेरुबू शब्द तालाब के अर्थ में ही पाए जाते हैं।

चौकोर पक्के घाट से घिरे तालाब चोपरा या चौपरा और र का ड़ होकर चौपड़ा भी कहलाते हैं। चौपड़ा उज्जैन जैसे प्राचीन शहर में, झांसी जैसे ऐतिहासिक शहर में तथा चिरगांव जैसे साहित्यिक स्थान में भी हैं।

चौपरा से ही मिलता-जुलता एक नाम चौघरा है। चारों तरफ से अच्छे-पक्के घाटों से घिरा तालाब चौघरा कहलाता है। इसी का तिघरा भी है। इसमें एक तरफ, संभवतः आगौर की तरफ का कच्चा छोड़ दिया जाता था। चार घाट और तीन घाट से एकदम आगे बढ़कर अठघड़ी पोखर भी होते थे। यानी आठ घाट वाले। अलग-अलग घाटों का अलग-अलग उपयोग होता था। कहीं अलग-अलग जातियों के लिए अलग-अलग तालाब बनते थे तो कहीं एक ही बड़े तालाब पर विभिन्न जातियों के लिए अलग-अलग घाट बना दिए जाते थे। इसमें स्त्री और पुरुष के नहाने के लिए भी अलग प्रबंध होता। छत्तीसगढ़ में डौकी घाट महिलाओं के लिए तो डौका घाट पुरुषों के लिए बनते थे। कहीं गणेशजी तो कहीं मां दुर्गा सिराई जातीं तो कहीं ताज़िए। सबके अलग घाट। इस तरह के तालाबों में आठ घाट बन जाते और वे अठघड़ी कहलाते थे।

अठघड़ी ताल तो दूर से चमक जाते पर गुहिया पोखर वहां पहुंचने पर ही दिखते थे। गुहिया यानी गुह्य, छिपे हुए पोखर। ये आकार में छोटे और प्रायः बरसाती पानी के जमा होने से अपने आप बन जाते थे। बिहार में दो गांव के बीच निर्जन क्षेत्र में अभी भी गुहिया पोखर मिलते हैं। अपने आप बने ऐसे ही तालाबों का और नाम है अमहा ताल। छत्तीसगढ़ी में अमहा का अर्थ है अनायास। गांवों से सटे घने वनों में प्राकृतिक रूप से निचली जमीन में पानी जमा हो जाता है। ढोर-डंगरो के साथ आते-जाते ऐसे तालाब अनायास ही मिल जाते हैं। उस रास्ते से प्रायः आने-जाने वाले लोग ऐसे तालाबों को थोड़ा ठीक-ठाक कर लेते हैं और उनको उपयोग में लाने लगते हैं।

अमहा का एक अर्थ आम तो है ही। आम के पेड़ से, बड़ी-बड़ी अमराइयों से घिरे ताल अमहा तरिया, ताल या आमा तरिया कहलाते हैं। इसी तरह अमरोहा था। आज यह एक शहर का नाम है पर एक समय आम के पेड़ों से घिरे तालाब का नाम था। कहीं-कहीं ऐसे ताल अमराह भी कहलाते। फिर जैसे अमराह वैसे ही पिपराह-पूरी पाल पर पीपल के भव्य वृक्ष। अमराह, पिपराह में पाल पर या उसके नीचे लगे पेड़ चाहे कितने ही हों, वे गिने जा सकते हैं, पर लखपेड़ा ताल, लाखों पेड़ों से घिरा रहता। यहां लाख का अर्थ अनगनित से रहा है। कहीं-कहीं ऐसे तालाब को लखरांव भी कहा गया है।

लखरांव को भी पीछे छोड़े, ऐसा था भोपाल ताल। इसकी विशालता ने आसपास रहने वालों के गर्व को भी कभी-कभी घमंड में बदल दिया था। कहावत में बस इसी को ताल माना : ताल तो भोपाल ताल बाकी सब तलैया! विशालतम ताल का संक्षिप्तम विवरण भी चकित करता है। 11वीं सदी में राजा भोज द्वारा बनवाया गया यह ताल 365 नालों, नदियों से भरकर 250 वर्गमील में फैलता था। मालवा के सुलतान होशंगशाह ने 15वीं सदी में इसे सामरिक कारणों से तोड़ा। लेकिन यह काम उसके लिए युद्ध से कम नहीं निकला और भोजताल तोड़ने के लिए होशंगशाह को फौज झोंकनी पड़ी। इतनी बड़ी फौज को भी इसे तोड़ने में तीन महीने लगे। फिर तीन साल तक ताल का पानी बहता रहा, तब कहीं जाकर तल दिखाई दिया। पर इसके आगर का दलदल 30 साल तक बना रहा। सूखने के बाद इसमें खेती शुरू हुई, तब से आज तक इसमें उम्दा किस्म का गेहूं पैदा होता चला आ रहा है।

बड़ों की बात छोड़ें, लौटकर आएँ छोटे तालाब पर। उथले, कम गहरे छोटे आकार के तालाब चिखलिया कहलाते थे। यह नाम चिखड़ यानी कीचड़ से बना था। ऐसे तालाबों का एक पुराना नाम डाबर भी था। आज उसका बचा रूप

डबरा शब्द में देखने को मिलता है। बाई या बाय भी ऐसे ही छोटे तालाबों का नाम था। बाद में यह नाम तालाब से हटकर बावड़ी में आ लगा। दिल्ली में कुतुब मीनार के पास राजों की बाय नामक बावड़ी आज इस शब्द की तरह पुरानी पड़ चुकी है।

पुराने पड़ गए नामों में निवाण, हद, कासार, तड़ाग, ताम्रपाली, ताली, तल्ल भी याद किए जा सकते हैं। इनमें तल्ल एक ऐसा नाम है जो समय के लंबे दौर को पार कर बंगाल और बिहार में तल्ला के रूप में आज भी पाया जाता है। इसी तरह पुराना होकर डूब चुका जलाशय नाम अब सरकारी हिन्दी और सिंचाई विभाग में फिर से उबर आया है। कई जगह बहुत पुराने तालाबों के पुराने नाम यदि समाज को याद रखने लायक नहीं लगे तो वे मिट जाते और उन्हें फिर एक नया नाम मिल जाता : पुरनैहा, यानी काफी पुराना तालाब। आसपास के तालाबों की गिनती में सबसे अंत में बने तालाब नौताल, नया ताल कहलाने लगते। वे पुराने भी पड़ जाते तो भी इसी नाम से जाने जाते।

गुचकुलिया ऐसे तालाब को कहते हैं जो होता तो छोटा ही है पर जो किनारे से गहरा हो जाता है। पल्लव भी ऐसे ही गहरे तालाब का पुराना नाम था। समय की तेज रफ्तार में यह नाम भी पीछे छूट गया है। आज इसकी याद दिल्ली के पास एक छोटे से कस्बे और ऐसे स्टेशन पल्लव के रूप में बच गई है, जिस पर रेलगाड़ियां बिना रुके दौड़ जाती हैं।

खदुअन छत्तीसगढ़ में ऐसे तालाबों को कहा जाता है, जिनका पानी बेहद साफ रहता है और पीने के काम में आता है। पनखती तालाब केवल निस्तारी के काम आते हैं। इसी तरह लेंड्या ताल और खुर ताल निस्तारी, दिशा मैदान और पशुओं को पानी पिलाने के लिए होते हैं।

अलग-अलग स्वतंत्र रूप से बने तालाबों के अलावा कहीं-कहीं एक दूसरे से जुड़े तालाबों की सांकल बनाई जाती थी। एक का अतिरिक्त पानी दूसरे में, दूसरे का तीसरे में। यह तरीका कम वर्षा वाले राजस्थान और आंध्र के रायलसीमा क्षेत्र में, औसत ठीक वर्षा वाले बुंदेलखंड और मालवा में तो अधिक वर्षा वाले गोवा और कोंकण में समान रूप से मिलता है। उत्तर में इनका नाम सांकल या सांखल ताल है तो दक्षिण में दशफला पद्धति।

तालाबों की यह सांखल मोटे तौर पर एकाधिक यानी दो से लेकर दस तालाबों तक जाती है। सांखल दो तालाबों की हो और दूसरा तालाब पहले के मुकाबले बहुत ही छोटा हो तो वह छिपीलाई कहलाता है। यानी पहले बड़े ताल के पीछे छिप गई तलाई।

लेकिन जो ताल सामने है और खूब सुंदर भी, उसका नाम चाहे जो हो, उसे सगुरी ताल भी कहते थे। जिस ताल में मगरमच्छ रहते थे, उसका नाम चाहे जितने बड़े राजा के नाम पर हो, लोग अपनी सावधानी के लिए चेतावनी के लिए उसका नाम मगरा ताल, नकया या नकरा ताल रख लेते थे। नकरा शब्द संस्कृत के नक्र यानी मगर से बना है। कुछ जगह गधया ताल भी हैं। इनमें मगर की तरह गधे नहीं रहते थे! गधा बोझ ढोने का काम करता है। एक गधा मोटी रस्सी का जितना बोझ उठा सके, उतनी रस्सी की लंबाई बराबर गहरा ताल गधया ताल कहलाता था। कभी-कभी कोई बड़ी दुर्घटना या घटना भी तालाब का पुराना नाम मिटा देती। यहां-वहां ब्राह्मनमारा ताल मिलते हैं। इनका नाम कुछ और रहा होगा, पर कभी उनमें किसी ब्राह्मण के साथ दुर्घटना घट गई तो बाद में उन्हें ब्राह्मनमारा की तरह याद रखा गया। इसी तरह का एक और नाम है बैरागी ताल। इसकी पाल पर बैठकर कोई कभी बैरागी बन गया होगा!

नदियों के किनारे नदया ताल मिलते हैं। ऐसे ताल अपने आगौर से नहीं, नदी की बाढ़ के पानी से भरते थे। नदियों के बदले किसी पाताली स्रोत से जुड़े ताल को भूफोड़ ताल कहते थे। ऐसे तालाब उन जगहों में ज्यादा थे जहां भूजल का स्तर काफी ऊंचा बना रहता था। उत्तर बिहार में अभी भी ऐसे तालाब हैं और कुछ नए भी बनाए गए हैं।

रख-रखाव के अच्छे दौर में भी कभी-कभी किसी खास कारण से एकाध तालाब समाज के लिए अनुपयोगी हो जाता था। ऐसे तालाब हाती ताल कहे जाते थे। हाती शब्द संस्कृत के हत शब्द से बना है और इसका अर्थ है नष्ट हो जाना। 'हत तेरे की' जैसे चालू प्रयोग में भी यह शब्द हत तेरे भाग्य की, यानी तो भाग्य नष्ट हो जाए जैसे अर्थ में है। हत-प्रभ और हत-आशा यानी हताश भी इसी तरह बने हैं। इस प्रकार हाती ताल छोड़ दिए गए तालाब के लिए अपनाया गया नया नाम था। लेकिन हाथी ताल बिल्कुल अलग नाम है- ऐसा तालाब जिसकी गहराई हाथी जितनी हो।

वापस हाती ताल लौटें। यह नाम संस्कृत से लंबी यात्रा कर थका दिखे तो सीधे बोली में से ताजे नाम निकल आते थे। फूटा ताल, फुटेरा ताल भी यहां-वहां मिल जाएंगे।

जिस तालाब पर कभी जनवासा बन गया, गांव की दस-बारह बरातें ठहर गईं, उसका नाम बराती ताल पड़ जाता था। लेकिन मिथिला (बिहार) का दुलहा ताल एक विशेष ताल है। मिथिला सीताजी का मायका है। उनके स्वयंवर की स्मृति में यहां आज भी स्वयंवर होते हैं।

अंतर इतना ही है कि अब वर का चयन कन्या नहीं करती, कन्या पक्ष करता है। दुल्हा ताल पर कुछ निश्चित तिथियों पर कई लड़के वाले अपने लड़के को लेकर जमा होते हैं। फिर कन्यापक्ष के लोग उनमें से अपनी कन्याओं के लिए योग्य वर चुन लेते हैं। छत्तीसगढ़ में भी ऐसे कुछ ताल हैं। वहां उनका नाम दुलहरा ताल है।

कई तालाबों के नाम लंबी कहानियों में से निकले हैं। लंबे समय तक इन तालाबों ने समाज की सेवा की है और लोगों ने लंबे समय तक इनकी लंबी कहानियां ज्यों का त्यों याद रखा है। ऐसे तालाबों में एक विचित्र नाम है 'हा हा पंचकुमारी ताल' बिहार में मुंगेर के पास यह तालाब एक ऊंचे पहाड़ के नीचे बना है। कहानी में राजा है, उसकी पांच बेटियां हैं, जो किसी असंतोष के कारण ऊंचे पहाड़ से तालाब में डूब कर अपने प्राण दे देती हैं। उन पांचों के शोक में तालाब का मूल नाम भी डूब गया और फिर लोगों ने उसे हा-हा पंचकुमारी के नाम से ही याद रखा है आज तक।

बिहार में ही लखीसराय क्षेत्र के आसपास कभी 365 ताल एक झटके में बने थे। कहानी बताती है कि कोई रानी थी जो हर दिन एक नए तालाब में स्नान करना चाहती थी। इस विचित्र आदत ने पूरे क्षेत्र को तालाबों से भर दिया। इस कहानी के कोई सौ तालाब आज भी यहां मिल जाएंगे और इनके कारण ही इस इलाके का जल-स्तर उम्दा बना हुआ है।

पोखर प्रायः छोटे तालाब के लिए ही काम आता है पर बरसाने (मथुरा) में यह एक बड़े तालाब के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। राधाजी के हाथ की हल्दी धोने का प्रसंग है। पोखर का पानी पीला हो गया। नाम पड़ गया पीली पोखर।

रंग से स्वाद पर आए। महाराष्ट्र के महाड़ इलाके में एक तालाब का पानी इतना स्वादिष्ट था कि उसका नाम चवदार ताल यानी जायकेदार तालाब हो गया। समाज के पतन के दौर में इस तालाब पर कुछ जातियों के प्रवेश पर प्रतिबंध लग गया था। सन् 1927 में चवदार ताल से ही भीमराव अंबेडकर ने अछूतोद्धार का आंदोलन प्रारंभ किया था।

विचित्र तालाबों में आबू पर्वत (राजस्थान) के पास नखी सरोवर भी है, जिसके बारे में कहा जाता है कि इसे देवताओं और ऋषियों ने अपने नखों से ही खोद डाला था। जिस समाज में साधारण माने जाने वाले लोग भी तालाब बनाने में पीछे नहीं रहते थे, वहां देवताओं का योगदान सिर्फ एक तालाब का कैसे होता?

गढ़वाल में सहस्रताल नामक एक क्षेत्र में सचमुच सैकड़ों तालाब हैं। हिमालय का यह इलाका 10 हजार से 13 हजार फुट की ऊंचाई पर है। यहां प्रकृति का एक रूप, वनस्पति विदा लेने की तैयारी करता है और दूसरा रूप हिम, अपना राज जमाने की। आसपास दूर-दूर तक कोई आबादी नहीं है। निकटतम गांव 5 हजार फुट नीचे है, जहां के लोग बताते हैं कि सहस्रताल उनसे नहीं, देवताओं ने ही बनाए हैं।

जयपुर के पास बना गोला ताल विचित्र घटनाओं में से निकले तालाबों में सचमुच सचित्र वर्णन करने लायक है। यह गोल है इसलिए गोला नहीं कहलाया। कहा जाता है कि यह एक तोप के गोले से बना था। तब जयपुर शहर नहीं बसा था। आमेर थी राजधानी। जयगढ़ के राजा ने जयबाण नामक एक बड़ी तोप बनाई थी। इसकी मारक क्षमता बहुत अधिक थी। इसका गोला 20 मील की दूरी तक जा सकता था। तोप जयबाण जयगढ़ किले के भीतर ही बने तोप कारखाने में ढली थी। मारक क्षमता के परीक्षण के लिए इसे किले के बुर्ज पर चढ़ाया गया और गोला दागा गया। गोला गिरा 20 मील दूर चाकसू नामक एक स्थान पर। विस्फोट इतना था कि एक लंबा चौड़ा और गहरा गड्ढा बन गया। अगली बरसात में इसमें पानी भरा और फिर यह कभी सूखा नहीं।

इस तरह जयबाण तोप ने बनाया गोला ताल। जयबाण तोप फिर कभी चली नहीं। परीक्षण के बाद ही शांति स्थापित हो गई। कहते हैं कि इसके बाद किसी ने उस तरफ हमला करने की हिम्मत नहीं की। गोला ताल आज भी भरा है और चाकसू कस्बे को पानी दे रहा है। अणुबम या कहीं अणुशक्ति के शांतिमय उपयोग की बात बहुत हुई थी, हमारे यहां भी हुई। इसी राजस्थान के पोकरन में उसका विस्फोट हुआ पर कोई गोला तालाब नहीं बना। बनता तो विकिरण के कारण न बनने से भी ज्यादा नुकसान पहुंचाता।

कभी-कभी किसी इलाके में कोई एक तालाब लोगों के मन में बाकी सबसे ज्यादा छा जाता, तब उसका नाम झूमर ताल हो जाता। झूमर है सिर का आभूषण। झूमर ताल उस क्षेत्र का सिर ऊंचा कर देता। तब प्यार में जैसे बेटे को कभी-कभी बिटिया कहने लगते हैं, उसे झूमरी तलैया कहने लगते। बिल्कुल भिन्न प्रसंग में एक झूमरी तलैया का नाम विविध भारती के कारण घर-घर पहुंच गया था। भारती, भाषा की विविधता समाज का माथा ऊंचा करती थी।

क्रमशः (साभार : आज भी खरे हैं तालाब)

मुंबई जो कभी बंबई था

■ लिंडसे परेरा

सन् 1992 में भाजपा ने बम्बई के विचार को तहस नहस कर डाला। मैं और मुझे जैसे और कई लोग सिवाय देखने के और कुछ भी ना कर सके।

दिसम्बर 92 में जब बाबरी मस्जिद गिराई गयी मैं एक कॉलेज जाने वाला लड़का था। मेरा जीवन इस बिंदु से पहले बहुत सुरक्षित और महफूज रहा था। सत्तर और अस्सी के दशक में बड़ा होते हुए मैं शिव सेना जैसी अराजक राजनीतिक पार्टियों की द्वेषपूर्ण राजनीति से अनभिज्ञ रहा। हालाँकि इन्होंने एक सुन्दर शहर को बर्बाद करने की धीमी प्रक्रिया अभी से ही शुरू कर दी थी। जब मस्जिद गिरी तो वो लम्बे समय से बम्बई के मिज़ाज का हिस्सा रही मासूमियत को भी अपने संग ले गयी। कम से कम सोलह साल के उस लड़के को तो ऐसा ही लगा था। उस महीने कुछ चीज़ें बड़े ही नाटकीय ढंग से हमेशा के लिए बदल जाने वाली थीं। रातों रात आपका धर्म और उपनाम आपकी शख्सियत की सबसे माकूल पहचान में बदल जाने वाला था।

मैं जिस स्कूल में पढ़ता था वो एक पब्लिक इंस्टीट्यूशन था जहाँ सभी धर्मों, सम्प्रदायों के लोग पढ़ते थे। यह मलाड के उपनगरीय इलाके में स्थित था जो उन दिनों तक टीवी धारावाहिकों के कलाकारों के रहने की प्रिय जगह नहीं बना था। मैंने वहाँ जो दोस्त बनाये - हिन्दू, मुसलमान, सिख, और उस इलाके के अकेले पारसी परिवार का एक लड़का-वे आज भी मेरे बहुत अजीज़ हैं बावजूद इसके कि अब उस दौर को दशकों बीत चुके हैं। पर यह उस दिसम्बर को पहली बार ही हुआ कि मुझे अपने और उनके मज़हब के बारे में सोचना पड़ा। इससे पहले कभी भी यह ख्याल मेरे मन से नहीं गुज़रा था।

एक और चीज़ जो एकाएक से बहुत महत्वपूर्ण हो उठी वह थी मेरी त्वचा का एक ऐसा हिस्सा जो मेरे लिए इससे पहले तक कोई मायने नहीं रखता था।

मेरा ख़तना सत्तर के दशक के आखिर में हुआ था और सौभाग्य से मुझे उस घटना की कोई याद नहीं है। हाँ एक अति-उत्साहित डॉक्टर ज़रूर याद है जो मुझे यह यकीन दिलाने पर तुला हुआ था कि यह मेरे भले के लिए है। ये ज़रूर है कि इस घटना ने हमारी बचकानी शैतानियों में एक नया आयाम जोड़ दिया था। लड़कों के

टॉयलेट में, हम 5-6 साल के बच्चे, अपने सहपाठियों को खेल-खेल में अपने जननांग दिखाते थे और यह 'रोमांचक' खेल भी खेलते थे कि हममें से कौन सबसे दूर तक पेशाब कर सकता है। वैसे देखा जाए तो इसमें हमारी गलती नहीं थी, हमारे पास मनोरंजन के नाम पर सिर्फ दूरदर्शन ही था वह भी शाम के 6:30 बजे के बाद।

तब मेरे लिए ख़तना हद से हद एक मामूली से कौतूहल का विषय भर था उसके दशकों बाद सन 1992 में मुझे यह हिदायत दी गयी कि मैं झुरमुटे के बाद मलाड के कुछ इलाकों में ना निकलूं वरना मुझे पर हमला हो सकता है! यानि कुछ ही सालों में तस्वीर बदल चुकी थी। यह बात कॉमन सेंस बनती जा रही थी कि ऐसे पुरुष जिनका ख़तना हुआ हो वे आतंकवादी होते हैं। यह अफवाहें आम हो चली थीं कि लोगों के समूह लड़कों और पुरुषों पर जोर जबरदस्ती कर उन्हें पतलूनें उतारने पर मजबूर करते हैं। जिनका ख़तना हुआ हो उन्हें मारने और चाकू भोंकने की बातें भी सुनने में आईं। यह इंटरनेट और स्मार्ट फोन से पहले का दौर था इसलिए सच क्या है यह पता लगाना और वाट्स एप के ज़रिये उसे फैलाना मुमकिन नहीं था। जो मैं जानता हूँ वो यह कि मर्वे रोड से हटकर मालवानी नाम का इलाका सबसे बुरी तरह प्रभावित हुआ था। एक किशोर के लिए हत्या और हिंसा को पचा पाना आसान नहीं था इसलिए इन घटनाओं ने मेरे ऊपर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ा। उन खून से रंगे दिनों में कई मर्तबा मैंने मर्वे रोड पर सफ़ेद कपड़ों से ढंकी लाशें रखी देखी थीं। नजदीकी रेलवे स्टेशन तक सुस्त रफ़्तार बसों से जाते हुए अक्सर मैं इस मंज़र से दो-चार होता था जहाँ सड़क पर पड़ी, सफ़ेद चादरों से ढंकी लाशों पर रोने वाला या उनका दावेदार कोई नहीं होता था। एक और चीज़ थी जिसने मुझे भीतर तक झकझोर दिया था। यह बात थी कि कैसे कुछ नेक और मददगार लोग सारी रात जागते थे और पूरे इलाके का चक्कर लगाते थे ताकि अल्पसंख्यक समुदायों के

शेष पृष्ठ 9 पर

क्यों हिंदू बन गया मुस्लिम शहीद रजब अली का परिवार

सांप्रदायिक सद्भाव के नायक रजब अली की खोज में निकले इतिहासकार ने पाया की उनके वंशज धर्म परिवर्तन कर चुके हैं और कुछ विदेश में बस गए हैं।

■ लीना मिश्रा

जुलाई 1 को गुजरात की मुख्यमंत्री आनंदीबेन पटेल पुराने अहमदाबाद शहर के एक मुस्लिम बहुल इलाके जमालपुर में एक संग्रहालय का उद्घाटन करने पहुंचीं। यह संग्रहालय दरअसल सांप्रदायिक सद्भाव के दो अनूठे नायकों के सम्मान में अठारहवीं सदी के एक तिमंजिले वाच टॉवर में बनाया गया है। सन 1946 में एक जुलाई के ही दिन वसंतराव हेगिश्ते और रजब अली लखनी जमालपुर की वार्षिक जगन्नाथ यात्रा के दौरान दंगाइओं की भीड़ से लड़ते हुए मारे गए थे। जहाँ वसंतराव मुसलमानों के लिए लड़ते हुए खेत रहे वहीं रजब अली हिन्दुओं को बचाते हुए मारे गए। आनंदीबेन पटेल ने बंधुत्व स्मारक का अनावरण किया जिसमें उपरोक्त शख्सियतों की निजी चीजें एवं अन्य सम्बंधित चीजें जैसे चश्मे, सैंडल, अखबारों की कतरनें, और उन दो नायकों से सम्बंधित जेल दस्तावेज इत्यादि रखे गए हैं। इस अनावरण समारोह का हिस्सा नायक हेगिश्ते का परिवार भी था जो इस पूरे समारोह में दर्शकों के बीच उपस्थित रहा। पर लखनी परिवार का क्या हुआ? वे कहाँ थे?

थोड़ी खोजबीन के बाद पता चला कि बाद में सांप्रदायिक दंगों में निशाना बनाये जाने पर लखनी परिवार अमरीका और कनाडा चला जा चुका था। अब तो डर के कारण वे लखनी से अपने सम्बन्ध को स्वीकार ही नहीं करते!! जब इंडियन एक्सप्रेस ने लखनी के भतीजे रश्मीन से फोन पर अमरीका बात की, जिन्हें पहले राशिद के नाम से जाना जाता था, तो उन्होंने बताया की, 'हमने यह तय कर लिया था कि हम अपने हिन्दू नाम रख लेंगे और अपनी धार्मिक पहचान और रजब अली लखनी से अपना सम्बन्ध छुपा लेंगे।'

अपने पते-ठिकाने का खुलासा करने से झिझकते हुए रश्मीन ने बताया की उन लोगों में जो हिन्दुस्तान में ही रुक गए थे, लखनी के छोटे भाई रमजान अली भी थे। पर जब नरनपुरा में उनके घर में ही उन पर हमला हो गया तो उन्होंने भी धर्म परिवर्तन कर लिया था और अपना नाम रमन लाल रख लिया था।

रमन लाल एक स्थानीय अखबार में पत्रकार थे और तीन साल पहले उनका इंतकाल हो चुका था। संग्रहालय के

उद्घाटन के तीन हफ्तों पहले ही उनकी पत्नी भी चल बसीं।

यह सारी बातें तब प्रकाश में आई जब अहमदाबाद के इतिहासकार रिज़वान कादरी ने इन परिवारों की पड़ताल शुरू की ताकि उन्हें संग्रहालय के उद्घाटन के लिए, जो उस जगह से महज 400 मीटर ही दूर है जहाँ हेगिश्ते और लखनी मारे गए थे, आमंत्रित किया जा सके। यह बात और है की उन्होंने आने से इंकार कर दिया।

इस संग्रहालय की संकल्पना अहमदाबाद की अपराध शाखा ने की थी ताकि लोगों की नाराजगी को कुछ कम किया जा सके और पुलिस की एक 'नरम और सेकुलर' पहचान प्रचारित की जा सके। क्योंकि इस साल रथ यात्रा अठारह जुलाई को होनी है और इसकी 'आशंका' है की ईद भी इसी दिन पड़ेगी।

रश्मीन (उम्र 76 वर्ष) रजब अली के बड़े भाई वज़ीर अली के बेटे हैं। उन्होंने सन 65 में हिन्दू धर्म अपना लिया था और भावनगर की एक हिन्दू महिला से शादी कर के अमरीका चले गए थे। वे कहते हैं, 'सन 69 और 77 में लखनी परिवार पर तीन से ज्यादा बार जानलेवा हमले हुए थे। इसे मद्देनज़र रखते हुए हमने धर्म परिवर्तन करने का फैसला किया था।'

उन्होंने आगे कहा कि, 'मेरे दोनों बच्चों को 18 और 19 साल की उम्र तक यह नहीं पता था की उनका बाप एक मुसलमान है।' आगे जोड़ते हुए उन्होंने यह भी बताया कि अब उनका तलाक़ हो चुका है।

रमजान अली लखनी उर्फ रमन लाल के बड़े बेटे सुभान, कनाडा में रहते हैं और सैम लखनी के नाम से जाने जाते हैं हालाँकि उन्होंने औपचारिक रूप से कभी धर्म परिवर्तन नहीं किया।

फ़ोन पर बात करते हुए उन्होंने कहा, 'सन 69 के दंगे विभाजन से पहले के दंगों जैसे थे। उनमें लगभग 10,000 के करीब मुसलमान मारे गए। हमारा परिवार सुरक्षा के लिए एक जगह से दूसरी जगह फिरता रहा। जहाँ तक मेरा सवाल है मैं तो अमरीका के लिए निकल चुका था पर मेरे भाइयों और बहनों को सुरक्षा के लिए अपने नाम बदलने

पड़े थे।’

सैम लखनी ने आगे जोड़ते हुए कहा की वे अपने माँ-बाप को ‘सुरक्षा’ कारणों की वजह से अपने साथ कनाडा ले जाना चाहते थे। ‘वे सन 86 में यहाँ आये पर ठण्ड ना बर्दाश्त कर सके और वापस लौट गए’, उन्होंने आगे जोड़ते हुए कहा। उन्होंने भी अपने पते-ठिकाने के विषय में कुछ बताने में कोई रुचि नहीं ली।

सैम ने यह भी कहा कि, ‘सन 69 के दंगों में हमारा परिवार एक जगह से दूसरी जगह भटकता रहा। कभी गांधी आश्रम, कभी बम्बई, कभी नाडियाड, और फिर वापस अहमदाबाद। हमने तंग आकर हिन्दू धर्म और हिन्दू नाम अपना लिए।’ रमज़ान के बाकि बच्चे पश्चिमी अहमदाबाद में रहते हैं। अपने माज़ी से पूरी तरह से कटे हुए और जुदा।

रजब अली लखनी एक खोजा मुसलमान थे जिनका जन्म 27 जुलाई, 1919 को कराची में हुआ था। वसंत-रजब

बलिदान की कहानी लम्बे समय से अहमदाबाद में एक किंवदन्ती का दर्जा हासिल कर चुकी है। रजब और वसंत दोनों का जन्म अहमदाबाद में 1906 में हुआ था और दोनों कांग्रेस सेवा दल के सदस्य थे। गुजरात के मशहूर कवि ज़वेरचन्द मेघानी के द्वारा संकलित रजब-वसंत स्मारिका में वसंत की छोटी बहन हेमलता हेगिश्ते ने लिखा था, ‘केवल मृत्यु ही उन दोनों को अलग कर सकी, जब कांग्रेस दफ़्तर से उनके मृत शरीर बाहर लए गए थे।’

पिछले कुछ सालों से सामाजिक कार्यकर्ता और वे लोग जो 2002 के गुजरात दंगों के पीड़ितों के लिए लड़ रहे हैं उनकी शहादत को ‘सांप्रदायिक सद्भाव दिवस’ के रूप में मना रहे हैं।

पर जैसाकि हेगिश्ते के भतीजे उदय की पत्नी, जो समारोह में उपस्थित थीं, ने कहा, दोनों के परिवार कभी भी संपर्क में नहीं रहे।

मुंबई जो कभी बंबई था

पृष्ठ 7 का शेष

लोगों पर कोई हमला ना हो सके। मैंने भी इस तरह की चौकीदारी में घण्टों एक ईमारत की छत पर बिताये थे। इस ईमारत में मेरे सबसे अजीज़ मित्र का घर था। मुझे वे ख़ौफ़ज़दा गश्तें याद हैं जब चाँद की नीम रौशनी में पास-पड़ोसी हिंसक भीड़ के एकाएक गली में घुस पड़ने की आशंका से जागते रहते थे।

फिर मैंने धीमे-धीमे मस्जिद और उसके गिराये जाने के सारे ख्यालों को दिल से हटा दिया। मुझे पता है कि ऐसा और भी कई बम्बई वालों ने भी किया क्योंकि अतीत में रहे आने की विलासिता किसी भी हिन्दुस्तानी शहरी के बस से बाहर की बात है। तो मैंने उन डरों और उन चिंताओं को एक किनारे किया, उन्हें अपने मन के एक कोने में छुपाया और ज़िन्दगी हस्बे मामूल चलने लगी।

पर उन चिंताओं और उन डरों ने भाजपा के सन् 2014 में केंद्र में आने के बाद फिर से सर उठा लिया। एकदम से सोशल मीडिया की रंगत ‘लिबटार्ड’, ‘कॉन्नी’, ‘आपटार्ड’, ‘सिकुलर’, और ‘प्रेसटिट्यूट’ जैसे शब्दों के चलन में आ जाने के कारण बदलने लगी। यह बात ज़रूर है कि ऐसे मंच कुछ समय से चलन में हैं पर नरेंद्र मोदी के प्रचार अभियान का हिस्सा रही भयानक नफ़रत और भाषाई हिंसा के साथ इनकी तो जैसे बाढ़ ही आ गयी। सोशल मीडिया नफ़रत और असहिष्णुता फैलाने का और बहुसंख्यक मतान्धता फैलाने का माध्यम बन गया।

यह समझना मूर्खता होगी कि दूसरे राजनीतिक दल अपना वोट बैंक बनाने के लिए धर्म के इस्तेमाल नहीं करते। वे यकीनन ऐसा करते हैं! और यह मानना भी मूर्खता होगी की बिना चुनाव व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन किये वोट बैंक पॉलिटिक्स को ख़त्म किया जा सकता है।

पर तात्कालिक रूप से कुछ न कुछ किये जाने की ज़रूरत को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। आज बम्बई एक संदिग्ध जगह बन चुकी है। आज यहाँ हर जगह गुस्सा पसरा है और आपसी समझ की तो जैसे जगह ही नहीं बची। आज यहाँ आपका उपनाम पहले की तुलना में कहीं अधिक महत्व रखता है और आपका धर्म यह तय करता है कि आप कहाँ घर ले सकते हैं और कहाँ नहीं। अब यहाँ अपना एक खास चरित्र रखने वाले मोहल्ले नहीं बचे हैं। अब यहाँ या तो बड़ी टाउनशिप्स हैं या झुगियाँ। मुझे अरूण टीकेकार नाम के पत्रकार द्वारा पूछा हुआ एक बेहद सटीक और प्रासंगिक सवाल याद आता है कि, ‘कैसे हम उस शहर से जहाँ मुहम्मद रफ़ी हिन्दू देवी-देवताओं के भजन गाते थे, एक ऐसे शहर में बदल चुके हैं जहाँ मुसलमानों को रहने का ठिकाना तक नहीं मिलता’।

वे राजनीतिक दल जो राज्य और केंद्र में सत्ता में हैं उन्हें इस सवाल का जवाब देना ही होगा। बम्बई उन्हें माफ़ कर सकती है पर हममें से कुछ लोग उन्हें कभी भी माफ़ नहीं कर पाएंगे।

अनुवाद : सौम्य मालवीय

सफर का समाज

■ अमित चमड़िया

हम अपने दैनिक जीवन में घटने वाली कई घटनाओं या वाक्यों को नजरअंदाज कर देते हैं, जबकि वे एक बड़ा संदेश अपने साथ लिए होते हैं। दिल्ली की मेट्रो ट्रेन में स्टेशनों पर रोजाना सीट (बैठने की जगह) 'लूटने' की घटना हमारे अंदर इतनी घुल-मिल गई है कि इसे बेहद सामान्य और स्वाभाविक तौर पर लेने लगे हैं। सीट 'लूटने' की यह प्रवृत्ति अन्य प्रकार की लूट से अलग दिखती है, लेकिन व्यवहार में किसी खास चीज को हासिल करने के लिए किसी भी तरह की हरकत कर बैठना, कई बार जबर्दस्ती भी, आखिर क्या बताता है!

शायद इसी तरह की 'स्वाभाविक' और 'सामान्य' मान लेने वाली लूट की घटनाओं ने हमारे भीतर लूट की प्रवृत्ति को लेकर सहजता को ज़िंदा रखा है। सीट 'लूटने' की होड़ भी किसी अन्य को मानसिक तौर पर और कभी-कभी शारीरिक तौर पर चोट पहुंचाती है। उस तरह की लूट जो वास्तव में लूट मानी जाती हैं, उनमें शामिल लोगों के पास लूट की वजह के पक्ष में दिए गए तर्क और सीट लूटने वालों द्वारा इस काम के लिए पेश की जाने वाली दलील में प्रवृत्तिगत कसौटी पर कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं होता है। यों भी लूट शब्द हमेशा नकारात्मक प्रभाव छोड़ता है, चाहे वह सीट लूटने की घटना हो या अन्य प्रकार की लूट!

कायदे से दिल्ली की मेट्रो ट्रेन की यात्रा इतनी सहज है कि इस तरह की घटनाएं नहीं होनी चाहिए। मुंबई की लोकल ट्रेन में चलने वाले यात्रियों से कुछ सीखने की जरूरत है। अगर मुंबई की लोकल ट्रेन में कोई यात्री आधा घंटे तक बैठ कर यात्रा कर लेता है तो आमतौर पर वह अपनी जगह अपने सामने खड़े या अन्य जरूरतमंद को दे देता है, ताकि दूसरा कोई व्यक्ति भी कुछ दूर बैठ कर यात्रा कर सके। इस तरह सीट का उपयोग बारी-बारी से कर लोग अपने-अपने गंतव्य स्थान तक पहुंच जाते हैं। इससे एक तो उनमें सीट 'लूटने' या इसके लिए मारामारी करने की संभावना कम हो जाती है। दूसरी ओर, सीट का बारी-बारी से उपयोग करने पर यात्रियों के बीच एक सामूहिक भावना हमेशा बनी रहती है। दिल्ली मेट्रो में अभी इस तरह का सहयोग बहुत कम देखा जाता है।

लेकिन इसके बरक्स दिल्ली मेट्रो भी सहयोग के कुछ उदाहरण दे देती है। हाल ही में मेरे सामने का एक वाक्या

एक बड़ा संदेश दे गया, जिसकी जरूरत हमारे देश को बहुत ज्यादा है। दिल्ली में बदरपुर से आईटीओ वाले मार्ग के एक स्टेशन पर कुछ लड़कों का समूह चढ़ा। उनके पास एक फुटबॉल भी थी। समूह के दो लड़कों को छोड़ कर बाकी सब मेट्रो के फर्श पर बैठ गए जबकि दोनों लड़के आमने-सामने के गेट के पास खड़े होकर एक दूसरे को हलके-हलके फुटबॉल पास करने लगे। चंद मिनट में ही पास खड़ी एक लड़की भी उनके साथ उस खेल में शामिल हो गई। अब तीन लोग गेंद को एक दूसरे को हलके-हलके पास कर खेल का आनंद लेने लगे।

जब भी ट्रेन किसी स्टेशन पर रुकती तो गेंद के बाहर जाने के डर से खेल कुछ सेकेंड के लिए बंद हो जाता। दो स्टेशन के बाद उस खेल में दो और लोग शामिल हो गए। उनमें एक की उम्र पचास के आसपास रही होगी। डिब्बे में सवार होने वाला हर नया यात्री एक किनारे खड़ा होकर खेल का आनंद लेने लगता। जब कभी गेंद अन्य यात्री से टकराती तो वह भी एक हलकी-सी किक गेंद को लगा देता।

मेरी बीस मिनट की यात्रा में कोई ऐसा यात्री नहीं मिला, जिसे उस खेल से आपत्ति हुई हो। अपने गंतव्य स्टेशन केंद्रीय सचिवालय से ठीक पहले डिब्बे में ज्यादा भीड़ की वजह से उनका खेल रुक गया। लेकिन इतनी देर के साथ ने उन्हें एक दूसरे से इतना जोड़ दिया कि उन्होंने स्टेशन पर उतरने से पहले अपने-अपने अंदाज में हथेली से हथेली टकरा कर एक दूसरे से विदा ली। कोई भी उस पल को देख यह अंदाजा लगा सकता था कि वे एक दूसरे के दोस्त होंगे। हथेली से हथेली टकराते वक्त शायद वे भी यही सोच रहे होंगे कि काश हम थोड़ी देर और खेल पाते।

खेल में अद्भुत ताकत है। इसने थोड़ी ही देर में पांच अनजान लोगों के बीच इतनी नजदीकी ला दी कि लोगों ने स्टेशन पर उतरते वक्त एक दूसरे से विदा ली। लेकिन यह बात हमारे देश के हुक्मरानों को समझ नहीं आती है। खेल ने हमेशा खाई को पाटने का काम किया है, चाहे वह दो मुल्कों के बीच हो या अमीर-गरीब के बीच। प्रेमचंद की कहानी 'गुल्लि डंडा' में भी इसे आसानी से समझा जा सकता है। जब कोई खेल कुछ अपरिचित लोगों को इतना नजदीक ला सकता है तो फिर उन्हें क्यों नहीं, जिनसे हमारा पुराना रिश्ता है!

सोने में और आंकड़ों के अंबार में कोई अंतर नहीं आखिरी सूरत में दोनों खरीद-फरोख्त की वस्तु ही हैं

आँकड़ों की भूलभुलैया

■ जी संपत

अगर दुनिया भारी-भरकम आँकड़ों के आधार पर चलती है तो यह मानवता के भविष्य के बारे में क्या इंगित करता है? इस मुद्दे पर आम सहमति इसे बेहद सकारात्मक रूप से आँकती है।

आशावादियों के अनुसार भारी आँकड़ों और तथाकथित 'वस्तुओं के इंटरनेट' (IOT) के मेल से हमें एक सुन्दर भविष्य हासिल हो सकता है जहाँ व्यापार, जीवन, और समाज सम्बन्धी सारे महत्वपूर्ण निर्णय पूरी परिशुद्धता से (और इत्मीनान से?) आंकड़ों के आधार पर लिए जा सकते हैं। पाठकों को ज्ञात होगा कि यह 'वस्तुओं का इंटरनेट' एक ऐसी दुनिया है जहाँ टेरों गैजेट, मशीनें, और मनुष्य इंटरनेट से और आपस में जुड़े रहते हैं। इसी तंत्र और प्रचुर सूचना भंडार के गठजोड़ की बुनियाद पर भविष्य के ये लुभावने सपने देखे जा रहे हैं।

माना जाता है कि मानव निर्णय, अपनी प्रकृति से ही गलत, आंशिक, और उलझा हुआ होता है और प्रायः ऐसे कारकों, मसलन नैतिक आशंकाओं और संवेदनाओं, से प्रभावित रहता है जिन्हें ना आँका जा सकता है ना जिनकी संख्यात्मक समझ विकसित की जा सकती है।

उपरोक्त सम्बन्ध का एक बड़ा फायदा ये गिनाया जाता है कि इससे हमें मानव निर्णय की इन सीमाओं से छुटकारा मिल जायेगा जिससे कार्यक्षमता और उत्पादन तो बढ़ेंगे ही साथ ही ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिए संसाधनों का सर्वोत्कृष्ट इस्तेमाल हो सकेगा।

यह नयी 'निर्णय प्रक्रिया' को जो आंकड़ों के बृहद भण्डार के आकलन द्वारा संचालित होती है, 'साक्ष्य-आधारित निर्णय प्रक्रिया' के रूप में जानी जाती है। हम इसे एक और पारिभाषिक पद, 'कार्यवाहीपरक सूचना', से मिलता-जुलता हुआ देख सकते हैं। साक्ष्य आधारित निर्णय प्रक्रिया का व्यापारिक परियोजनाओं में कुछ लाभ तो होता ही है। किसी संस्थान विशेष के लिए सॉफ्टवेयर समाधान तैयार करना भी कुछ इसी तरह के कार्य के रूप में देखा जा सकता है बल्कि इसे बृहद आंकड़ों के विश्लेषण की आधुनिक तकनीकों के अग्रगामी रूप के बारे में देखा भी जाता है। यह साक्ष्य आधारित निर्णय प्रक्रिया मौसम की जानकारी के लिए, भूकम्प

वगैरह के खतरे आँकने के लिए आदर्श मानी जाती है। साथ ही टीम खेलों में भरोसेमंद खिलाड़ियों को चिन्हित करने के लिए भी इसका उपयोग सर्वविदित है जैसा की हम बेस्टसेलिंग किताब और फ़िल्म 'मनीबॉल' में देख भी सकते हैं।

इसके अलावा प्रचुर आँकड़ों के ये भंडार तमाम बुनियादी तंत्रों एवं उद्योगों के प्रबंधन में भी महती भूमिका अदा करते हैं। और जैसाकि स्नोडेन प्रकरण से और भी साफ़ हो गया है कि सुरक्षा, सामरिक मसलों, स्वास्थ्य, और भूराजनीति में भी इनकी भूमिका कम नहीं रहती।

तकनीकी निश्चयवाद के शैदाइयों का तो ये मानना है कि गणनात्मक क्षमताओं का जैसा असाधारण विकास हो रहा है उससे अप्रत्याशित स्तर तक आँकड़े पैदा किये जा सकेंगे जिससे मनुष्यों के सोचने, समझने, और जीने के तौर-तरीकों में अवश्यंभावी रूप से बदलाव आएगा।

'वायर्ड' पत्रिका के पूर्व प्रधान संपादक क्रिस एंडरसन ने अपनी काफी चर्चित रही टिप्पणी "सिद्धांत का अंतः आँकड़ों की बाढ़ ने वैज्ञानिक पद्धति को अप्रासंगिक कर दिया है" में यही विचार आगे रखा था। उनका तर्क सीधा था : चूँकि आँकड़ों के आकलन मात्र से हम विभिन्न सह-सम्बन्धों को देख सकते हैं और सटीक अनुमान लगा सकते हैं अतः कारण और प्रभाव के मॉडल पर टिकी पारम्परिक व्याख्याएँ अब अप्रासंगिक हो चुकी हैं।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमें अब विचार की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। आंकड़े इकट्ठा करिये उन्हें आकलन तंत्र में डालिये और समाधानों का इंतज़ार करिये। एंडरसन के शब्दों में "अगर पर्याप्त आंकड़े हों, तो संख्याएँ स्वयं बोलती हैं"।

आपको ये भी बतला दूँ के अब यह मात्र किसी चार्टर्ड एकाउंटेंट का आदर्श नहीं बल्कि इस दुनिया पर ज़ोर रखने वाली तमाम शख्सियतों की राय बनती जा रही है।

विश्व आर्थिक मंच, जो विश्व के शक्तिशाली अभिजन के सालाना जमावड़े का नाम है, ने वैश्विक तकनीक पर अपनी 2014 की रिपोर्ट में यह नोट किया है कि आँकड़े "नयी तरह की संपत्ति बनते जा रहे हैं" और "यह संपत्ति

अब तेल और सोने के समतुल्य होती जा रही है। बल्कि यह कहना गलत नहीं होगा कि आँकड़ों की महत्ता में आया ये उछाल बीसवीं सदी में टेक्सास में तेल की वजह से अर्थव्यवस्था में आई तेजी और मध्य 19वीं सदी में सोने के भंडार मिलने से सैन फ्रांसिस्को के आर्थिक परिदृश्य में आये भारी बदलाव जैसा है।

क्या राजनीति इस परिदृश्य में अप्रासंगिक हो गई है

इसमें कोई दो राय नहीं कि बृहद आँकड़ों के आकलन तंत्र के विस्तार का सीधा जुड़ाव व्यापार से है। पर क्या इसी वजह से राजनीति और जननीतियों के क्षेत्र में भी इसे निर्णायक भूमिका दी जानी चाहिए?

पर जिस बारम्बारता के साथ “साक्ष्य आधारित निर्णय क्षमता” और “कार्यवाहीपरक सूचना” का उल्लेख सरकारी दस्तावेजों और संयुक्त राष्ट्र संघ, और वर्ल्ड बैंक जैसे संस्थानों की रिपोर्टों में मिलता है उससे तो यही लगता है कि उपरोक्त प्रश्न का उत्तर “हाँ” में दिया जा चुका है।

भारत भी पूरी तत्परता के साथ इस महायज्ञ का हिस्सा बनता जा रहा है। एक तरफ अंग्रेजी में शिक्षित इंजीनियरिंग/गणित के ग्रेजुएटों की भीड़ है जो भारत को आँकड़ों के आकलन/विश्लेषण किया जाने के लिए एक आकर्षक गंतव्य बना देती है। तो दूसरी तरफ सरकार और नागरिकों के बीच अब अधिकांश लेन-देन इंटरनेट के ज़रिये ही होते हैं जैसे पासपोर्ट प्राप्ति के लिए आवेदन देना, कर अदा करना इत्यादि। साथ ही भारतीय राज्य ने आधार के मुद्दे पर भी अपना रुख नरम नहीं किया है और तो और चिकित्सा से जुड़े दस्तावेजों को भी डिजिटल रूप देने की योजनाएं चल रही हैं। यह सब इसी ओर इंगित करता है कि भारत में भी आँकड़ों के विशद भंडार की भूमिका बढ़ती ही जाएगी।

इसके आलावा यह उदाहरण भी दिए जा रहे हैं कि कैसे इन आँकड़ों का समाज के हित में इस्तेमाल किया सकता है। हमें यह बताया जा रहा है कि सेलफोन की कॉल लिस्ट से किसी प्राकृतिक आपदा के दौरान सुरक्षित बचे लोगों की पहचान की जा सकती है। ऑनलाइन सर्च की पड़ताल से किसी बीमारी के फैलने का अंदाज़ा लगाया जा सकता है (गूगल फ्लू ट्रेंड्स जैसे एप्लीकेशंस के पीछे यही विचार काम करता है)।

जिस तरह से अरबों डॉलर तथाकथित ‘सूचना अर्थव्यवस्था’ में लगे हुए हैं उससे तो यही लगता है कि इसका भरण पोषण करने वाला कच्चे माल, यानि खुद वे मनुष्य जो आँकड़े पैदा करते हैं, खुद उनकी इस प्रसंग में कोई भूमिका नहीं रह जाएगी। हम भारत में इसकी शुरुआत होती देख चुके हैं। मसलन ‘साक्ष्य आधारित निर्णय क्षमता’

को भारत के गरीब तबकों के लिए बची-खुची कल्याणकारी योजनाओं के विरुद्ध तर्क के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। जैसे सामान्य वितरण प्रणाली के विरुद्ध आँकड़े गवाही देते हैं कि यह पक्की व्यवस्था नहीं है और लड़खड़ा कर चल रही है। वहीं ग्रामीण रोजगार योजना के विरुद्ध आँकड़े यह तस्वीर खींचते हैं कि ये भ्रष्टाचार से ग्रसित है। याने आँकड़े इसी ओर इशारा करते हैं की ऐसी योजनाओं को बंद कर देना चाहिए।

केवल इन साक्ष्यों के आधार पर निर्मित नीति के अनुसार तो इन योजनाओं को डिब्बा बंद करके सीधे नकद अंतरण से बदल देना चाहिए। और यह विदित है कि मौजूदा सरकार के मंसूबे कुछ ऐसे ही लगते हैं। लेकिन आप ही बताइये क्या केवल आँकड़ों के आधार पर अन्न के बजाय नकद देने के सामाजिक प्रभावों को समझा जा सकता है। यह समझ तो नीतियों की सूक्ष्म आलोचना के ज़रिये ही पैदा हो सकती है न कि आँकड़ों के आकलन से और यह स्पष्ट रूप से राजनीति का काम है।

ये भारी भरकम आँकड़े हमें कहाँ लिए जा रहें हैं

बृहद आँकड़ों के आकलन का चमत्कारी विकास और इस प्रक्रिया का सरकारी नीतियों में निरंतर बढ़ता इस्तेमाल कुछ प्रस्थापनाओं पर टिका हुआ है। इसमें शामिल हैं सूचना तकनीक का विस्तार, गरीबी की वजह से हाशियाकृत लोगों का डिजिटल तकनीक के ज़रिये समावेश, और एनालॉग संकेत तंत्र पर डिजिटल संकेत तंत्र का बढ़ता प्रभुत्व।

पर इस नए निज़ाम की सबसे बड़ी दरकार निजता की अवधारणा मात्र के खाल्से की है। हममें से तो कई पूरी स्वेच्छा से अपनी निजता का त्याग पहले ही कर चुके हैं। कभी अपनी सुविधा के लिए तो कभी खर्च बचाने के लिए। याद कीजिये जब सोशल मीडिया या ईमेल सर्विस पर साइन इन करने के लिए आप “आई एक्सेप्ट” पर क्लिक करते हैं तो अपनी निजता को इसी आसानी से त्याग भी देते हैं। पर निजता - जो यकीनन लोकतंत्र का महत्वपूर्ण हिस्सा है - आँकड़ों की बाढ़ का एकमात्र शिकार नहीं है। इससे भी चिंताजनक औपनिवेशिक दौर के शोषण का एक तरह से डिजिटल रूप है बस अंतर इतना है कि अब आँकड़े खनिज संसाधनों और कच्चे माल की जगह मूल्य का स्रोत बन गए हैं।

इस वजह से भारत समेत अन्य तमाम विकासशील देशों में बेहद अजीबोगरीब चीजें देखने को मिल रही हैं। मसलन जहाँ लोगों के पास शौचालयों की सुविधा तक नहीं है, एक ऐसा तथ्य जिसके जन स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव बेहद गंभीर हैं, वहाँ लोगों के पास सेल फ़ोन आसानी से मिल जाता है और उनके फ़ोन के आँकड़ों को इकठ्ठा

किया जाता है ताकि उनके स्वास्थ्य के बारे में 'कार्यवाहीपरक सूचना' जुटाई जा सके और स्वास्थ्य नीति को "साक्ष्य-आधारित" मानदंडों के अनुसार बनाया जा सके।

इसी तरह की विसंगतियों के सन्दर्भ में तंज़ानिया के एक स्वास्थ्य मंत्री का दिया हुआ यह पद अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है : सूचना उपनिवेशवाद।

यह पद और भी उपयुक्त जान पड़ने लगा जब विश्व स्वास्थ्य संगठन में ज्ञान और प्रबंधन के निदेशक नजीब अल शोरबाजी ने 2013 में "सूचना उपनिवेशवाद" शीर्षक से एक भाषण दिया। शोरबाजी ने इस पद का इस्तेमाल उस परिदृश्य को देखते हुए किया जहाँ पश्चिमी देश अफ्रीकी राष्ट्रों से ढेर सारे स्वास्थ्य सम्बन्धी आँकड़े निकालते जा रहे हैं पर अफ्रीकियों को इसका कोई भी फायदा होता नहीं दिख रहा।

शोरबाजी भी विश्व आर्थिक मंच की तरह आँकड़ों की तुलना सोने से करते हैं। इस तुलना को आगे ले जाते हुए वे कहते हैं कि आज पूर्व-उपनिवेशित देशों से पश्चिमी दुनिया की तरफ आँकड़ों का यह प्रवाह पिछले दौर में उपनिवेशों से यूरोप के तरफ कच्चे माल के प्रवाह जैसा ही है।

दोनों ही स्थितियों में लक्ष्य वही है : मूल्य की उगाही।

आज बेजा आँकड़े (जिन्हें डेटा एग्जॉस्ट भी कहा जाता है) गूगल, अमेज़न या ऐसे ही साधनों के ज़रिये विकासशील बाजारों से पश्चिम की ओर जाते हैं और सूचना की तरह बेचे जाने लायक बन जाते हैं। शोरबाजी आँकड़ों पर आधारित इस शोषण तंत्र की सामाजिक गतिकी को एक ऐसे क्षेत्र के उदाहरण के द्वारा समझाते हैं जिसे बृहद आँकड़ों के आकलन का तंत्र अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि के तौर पर गिनवाता है याने कि शिक्षाव्यवस्था।

वे बताते हैं कि कैसे बेहद पिछड़े हुए अफ्रीकी जन, जो सूचना आधारित स्वीकृति के सिद्धांत से भी परिचित नहीं हैं क्योंकि वे जहाँ के निवासी हैं वहाँ आँकड़े इकट्ठे करने के लिए बुनियादी वैधानिक ढांचा तक अस्तित्व में नहीं है, कितनी आसानी से खतरनाक मेडिकल परीक्षणों के शिकार हो जाते हैं, महज कुछ पैसे के लिए या मुफ्त इलाज प्रलोभन में पड़कर।

बृहद आँकड़ों के तंत्र का संचालक तर्क

अब हम इस तंत्र के दर्शन पर आते हैं जो कि सांख्यिकी के अमूर्तनों पर टिका हुआ है। जैसा कि सर्वविदित है एक विषय के रूप में सांख्यिकी का विकास आधुनिक राज्य की जनसंख्या नियंत्रण की ज़रूरत के हिसाब से हुआ। अब इस तंत्र में उत्तर आधुनिक राज्य ने एक

ऐसा सहयोगी ढूँढ लिया है जो जनसंख्या के पिछड़े और शोषित तबकों को बड़ी आसानी नियंत्रित कर सकता है ताकि वे अपनी स्थिति से आजिज आकर उनके खिलाफ न उठ खड़े हों जो राज्य के सर्वे-सर्वा हैं।

यह तो बात स्पष्ट है ही कि यह 'बिग' डेटा इतना 'बिग' इसलिए है क्योंकि यह इतना प्रचुर है, इसके पैदा होने की गति इतनी ज्यादा है और इसके स्रोत इतने विविध हैं। पर इसके 'बिग' होने का असली कारण तो यह है की ये मनुष्य की क्षमता छीनकर उसे आँकड़ों और कंप्यूटर प्रोग्रामों में अवस्थित कर देता है।

'कार्यवाहीपरक सूचना' का पद जिसका उल्लेख अक्सर ही इन सन्दर्भों में होता रहता है इसी ओर इशारा करता है कि मनुष्यों में ना निर्णय लेने की क्षमता होती है ना वे अपने निर्णयों की जिम्मेदारी ले सकते हैं। इससे यही अभिप्राय होता है कि सूचना या आँकड़े स्वयं ये तय कर लेते हैं, मनुष्यों की तरफ से भी, कि क्या कार्यवाही की जानी चाहिए। यही इस नए निज़ाम की सबसे बड़ी सामाजिक कीमत है।

अब हम, बड़े आँकड़ों के सन्दर्भ में सबसे बड़े प्रश्न पर आते हैं कि क्या यह आकलन तंत्र मानवता की समस्याओं का हल हो सकता है? हाँ पर उन समस्याओं का नहीं जिन्हें मनुष्य देखना भी नहीं चाहते।

देरों वैश्विक समस्याओं का उद्गम अभाव में होता है। हमें यह बताने के लिए किसी विस्तृत आकलन तंत्र की ज़रूरत नहीं है। यह सामान्य सी बात है कि अगर इस चहुँओर फैले हुए अभाव को दूर करने के प्रयास किये जाएँ तो भूख और बीमारी का हल ढूँढा जा सकता है। इसके लिए ज़रूरी है कि हम संपत्ति और आय की गहरी असमानता पर ध्यान दें।

बल्कि हमारे पास ऐसे आँकड़े मौजूद हैं जो इस बात को साबित करते हैं (जैसे कि एक 'ओइसीडी' की रिपोर्ट) कि गैरबराबरी कम करने से आर्थिक प्रगति बढ़ती है। पर इस सामान्य से तथ्य ने कहीं भी सरकारी नीतियों पर कोई असर नहीं डाला है। जहाँ साक्ष्य आधारित नीति निर्धारण व्यापार और तकनीक जगत के लिए लाभदायक हो सकता है, वहीं केवल राजनीतिक रूप से सजग नीति निर्माण ही लोगों के जीवन में कोई मानीखेज़ बदलाव पैदा कर सकता है। यह बात तो हमें खुद आँकड़ों के फ़रिश्ते ही बताते हैं - कि आँकड़ों के ये भंडार सोने से ज़रा भी भिन्न नहीं, प्रथमतः और अंतिमतः ये दोनों बेचने लायक वस्तु ही हैं।

अनुवाद - सौम्य मालवीय

मैं इस जंगल के सब पेड़ों को जानता हूँ

■ आलोक प्रकाश पुतुल

67 साल के दामोदर कश्यप को अगर आप बरेलाकोट के जंगल में तलाशने की कोशिश करेंगे तो शायद आप गुम जाएंगे। आखिर चार सौ एकड़ के घने जंगल में किसी एक आदमी को तलाशना आसान नहीं।

लेकिन दामोदर कश्यप से आप पूछें तो वह हंसते हुए जवाब देंगे, 'मैं तो इस जंगल के सब पेड़ों को जानता हूँ।'

बस्तर के बकावंड इलाके में ओड़िशा की सीमा से लगा हुआ है संध करमरी गांव। 35 साल तक इस गांव के सरपंच रहे दामोदर कश्यप को गांव और उसके आसपास के लोग बाबा के नाम से जानते हैं।

पूरे गांव की संपत्ति

कोई 30 साल पहले जब गांव के आसपास के जंगल वन विभाग के लोगों ने काट दिए और गांव की निस्तार की ज़मीन भी उजाड़ हो गई तब गांव के लोगों ने वहां अतिक्रमण करके खेती शुरू कर दी।

दामोदर बताते हैं, 'गांव वालों को समझाया बुझाया और फिर वहां गांव के लोगों के साथ मिल कर पौधा लगाना शुरू किया। कुछ ही सालों के भीतर पूरे चार सौ एकड़ ज़मीन पर पौधे लहलहाने लगे।'

संध करमरी और आस-पड़ोस के गांव के लोगों की नज़र पास के जंगल पर पड़ी तो गांव से लगी हुई सौ एकड़ की ज़मीन पर पंचायत से प्रस्ताव पारित किया और ज़मीन को गांव की कुलदेवी मावली देवी के नाम कर दिया।

भतरा आदिवासी समुदाय के लंबे समय तक अध्यक्ष रहे दामोदर मुस्कुराते हुये कहते हैं, 'देवी के नाम पर उस इलाके को किया तो पूरा जंगल बच गया। फिर उसी जंगल के वनोपज से जो मिला, उससे देवी का मंदिर भी बन गया। देवी के नाम का सौ एकड़ का जंगल अब पूरे गांव की संपत्ति है।'

दामोदर कश्यप ने अपनी ज़मीन भी गांव को दान दे दी और उस पर भी पेड़ लगवा दिए।

कुछ देसी-विदेशी संस्थाओं ने दामोदर कश्यप को सम्मानित

भी किया है। लेकिन दामोदर कश्यप का कहना है कि वह तो केवल अपने गांव के लिए कुछ करना चाहते हैं बस!

बचाता है 'टेंगापाली'

इन सारे जंगलों से गांव के लोग आम, महुआ, चिरौंजी, काजू जैसे वनोपज तो ले सकते हैं लेकिन जंगल की सूखी लकड़ी भी वह पंचायत की अनुमति के बिना नहीं ला सकते।

फिर भी गांव के लोगों को इससे कोई शिकायत नहीं है।

इतने बड़े जंगल की देखरेख के लिए भी दामोदर कश्यप ने तरकीब निकाली। तरकीब थी 'टेंगापाली'।

गांव की कुलदेवी के मंदिर में उन्होंने एक टेंगा रखा, टेंगा यानी एक अच्छा-खासा डंडा। फिर उस टेंगा पर देवी के कुछ कपड़े लपेट दिये। गांव के तीन

लोगों को ज़िम्मा दिया कि देवी के इस 'टेंगापाली' को वे पूरे दिन जंगल घुमाएंगे।

गांव के श्रवण बताते हैं, 'हर दिन सुबह टेंगापाली लेकर गांव के तीन लोग जंगल के लिए निकलते हैं और फिर शाम को उसे अपने पड़ोसी के घर छोड़ जाते हैं।'

'पड़ोसी और उसके घर से लगे दो घरों के लोग अगले दिन 'टेंगापाली' को जंगल ले जाते हैं। अगर कोई टेंगा ले कर नहीं गया तो उसे पांच सौ रुपये का जुर्माना देना पड़ता है।'

गांव वालों का कहना है कि पिछले 6-7 सालों में कभी ऐसा नहीं हुआ कि 'टेंगापाली' को जंगल नहीं ले जाया गया हो। छत्तीसगढ़ राज्य क्षतिपूर्ति वनीकरण, कोष प्रबंधन और योजना प्राधिकरण की सदस्य मीतू गुप्ता कहती हैं, 'दामोदर जी का जो पूरा काम है, वह एकबारगी चौंका देता है। मैंने उनके गांव में जा कर उनके पूरे काम को देखा-समझा है।'

'जिस सूझबूझ के साथ उन्होंने गांव वालों के साथ मिल कर लगभग 600 एकड़ के इलाके में जंगल को बनाया और बचाया है, वह हम सब के लिए मिसाल है।'

साभार : बीबीसी



देशभक्ति की सही पहचान

■ शीतला सिंह

लोकतंत्र में असहमतियों और विरोध को उसका स्वभाव और गुण माना जाता है, क्योंकि पूर्ण वैचारिक एकता संभव नहीं है। स्वार्थों का संघर्ष और उनके द्वारा गढ़े गए नारे सर्व-स्वीकार्य नहीं हो सकते। देशद्रोह, राष्ट्रद्रोह, मातृभूमि, भाषा और धर्म को ही निर्णायक मानना भी इसी कोटि में आता है। यही कारण है कि बिहार के कन्हैया कुमार, जो जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय छात्रसंघ के निर्वाचित अध्यक्ष थे, के खिलाफ देशद्रोह के आरोप को जहां प्रसिद्ध न्यायविद सोली सोराबजी अनुचित मानते हैं वहीं पटना से भाजपा के सांसद शत्रुघ्न सिन्हा भी इससे असहमत हैं। वे आरोपों को अनुचित करार देते हुए कन्हैया को निर्दोष बताते हैं।

देशभक्ति की पहचान किस रूप में की जाए? क्या जन्म के कारण ही यह स्वाभाविक रूप से नागरिकता की भांति प्राप्त हो जाती है, या इसके अन्य तार्किक आधार भी हैं, क्योंकि बहुत-से लोगों का जन्म विदेश में हुआ लेकिन उन्हें भारतीय नागरिक के रूप में स्वीकार किया गया क्योंकि उनके मां-बाप मूल रूप से इसी क्षेत्र के निवासी थे।

इसी प्रकार सवाल यह भी उठता है कि लालकृष्ण आडवाणी जो पाकिस्तान के सिंध में पैदा हुए थे, क्या मातृभूमि के आधार पर उन्हें पाकिस्तान का मान लिया जाए? परवेज मुशर्रफ़ दिल्ली में जनमे थे, लेकिन वे पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष और फिर राष्ट्रपति बने। क्या इन लोगों के देशप्रेम को नकारा जा सकता है? खान अब्दुल गफ्फार खां जिन्हें हम सीमांत गांधी के रूप में जानते हैं, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के विरल सेनानियों में थे। उनका प्रदेश तो अंग्रेजों द्वारा विभाजित भारत का अंग था लेकिन भारत के नेताओं ने इस दूरस्थ क्षेत्र की प्रशासनिक कठिनाइयों का सामना करने के बजाय वहां जनमत संग्रह करके नया निर्णय कराने का प्रस्ताव किया जो सीमांत गांधी को कतई स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने इसका विरोध किया।

यह क्षेत्र अब पाकिस्तान का अंग है। वहां के शासकों ने उन्हें जेल में रखा और भारत ने उन्हें शीर्षस्थ सम्मान 'भारत रत्न' से विभूषित किया। तो क्या इसे पाकिस्तानी नागरिक का सम्मान कहा जाएगा? राष्ट्रगीत के

रचयिता रवींद्रनाथ ठाकुर का जन्म चटगांव में हुआ था, जो पूर्वी पाकिस्तान का अंग बना, तो क्या यह उन्हें देशभक्त मानने में गुरेज का कारण बनेगा? देश का विभाजन एक राजनैतिक निर्णय था, जिसके फलस्वरूप लाखों लोग अपने मूल स्थानों को छोड़ कर इधर या उधर गए, लेकिन क्या इस परिवर्तन के कारण उन्हें देशद्रोही की संज्ञा देना उचित होगा?

कैसे देश का गद्दार कहा जाए, कैसे देशभक्त? भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कई विदेशियों ने भारत का समर्थन किया। इन आंदोलनों को उन लोगों ने उचित बता कर इसमें साझीदारी की। तो क्या इन लोगों को ब्रिटिश सरकार द्वारा देशद्रोही बताना उचित होगा? यह तो विचारगत मामला था कि देशों के निर्णय का अधिकार वहां के निवासियों की इच्छा पर आधारित होना चाहिए, शक्ति या कब्जे पर नहीं। कश्मीर को महाराजा हरी सिंह के पिता गुलाब सिंह ने अंग्रेजों से एक करोड़ रुपए में खरीदा था। आज उस कश्मीर का बड़ा हिस्सा आजाद कश्मीर के नाम से पाकिस्तान के पास है। वहां के निवासियों को हम भारतीय मानेंगे, पाकिस्तानी मानेंगे, या विदेशी? भारतीय क्षेत्र में हुरियत नाम के संगठन वाले इसे पाकिस्तान में शामिल कराना चाहते हैं, लेकिन क्या उनकी नागरिकता या मताधिकार भारत की किसी सरकार ने छीने हैं? आज भी वे अपने को कश्मीर के ही नागरिक बताते हैं और इसी क्षेत्र में रहते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद छह नए क्षेत्र जो पृथक राज्य थे, भारत में शामिल हुए हैं। उन्हें सिक्किम, गोवा, पांडिचेरी, दमण व दीव के नाम से जाना जाता है। क्या इनकी भारतीयता पर किसी प्रकार का संदेह करना उचित होगा, जबकि वे भारत के संविधान और शासन को स्वीकार करके अन्य राज्यों की भांति ही काम और व्यवहार कर रहे हैं। इसलिए मूल प्रश्न यही है कि हम भ्रामक शब्दों के बजाय, या शब्दों के जरिए भ्रम का घटाटोप पैदा करने के बजाय देशप्रेम की अवधारणा को देश की एकता और स्वीकार्यता के बल पर कितना विस्तारित करते या घटाते हैं। इसलिए सवाल यह है कि देश किसे कहें, सिर्फ कुछ राष्ट्रीय प्रतीकों को, या देश में जो सब कुछ समाहित है, जिसमें अलग-अलग तरह के लोग,

अलग-अलग धाराएं और असहमतियां भी शामिल हैं। अपना राज्य, हमारी संयोजक शक्ति और निर्णायक तत्त्व क्या हैं जो इस कार्य में सहायक या बाधक बनते हैं।

जहां तक जाति, धर्म, संप्रदाय और भाषा का संबंध है, ये संयोजक और निर्णायक नहीं हो सकते। यही कारण है कि वे सत्तावन देश जो मुसलिम बहुल हैं और जिनके शासक भी मुसलिम ही हैं, वे भी अपने को एकता के सूत्र में नहीं बांध पाए हैं। आज अल्लाह, पैगंबर और कुरान में विश्वास रखने वाला इस्लाम भी बहतर खेमों में बंट चुका है। इसी प्रकार ईसाई, बौद्ध और सिख भी अपने को धर्म के आधार पर नहीं जोड़ पाए हैं। भारत का पड़ोसी नेपाल भी हिंदू बहुल राज्य है। लेकिन सिक्किम तो भारत का अंग होना स्वीकार कर सकता है, नेपाल नहीं। इसी प्रकार जब राष्ट्र की परिभाषा के लिए एकात्मक सूत्रों की खोज होती है तो भाषा, जाति, संस्कृति ही निर्णायक होते हैं। यही कारण है कि अठारह देशों का यूरोप एक राष्ट्र तो माना जा सकता है लेकिन हम भारत को बहुराष्ट्रीय राज्य ही कहते हैं। राष्ट्र और राज्य (नेशन और स्टेट) के अंतर को हम समाप्त नहीं कर पाए हैं।

जब देश का स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था तो कई ब्रिटिश नागरिक भी भारत की स्वतंत्रता के पक्षधर थे और कुछ तो इस लड़ाई में महत्त्वपूर्ण भूमिका में थे। तो क्या उनके योगदान को नकारा जा सकता है? जो लोग देश को गुलाम बनाए रखने के लिए अंग्रेजी साम्राज्य के साथ थे, क्या उन्हें देशद्रोही कह कर नकारना उचित होगा? मूल रूप से संयोजक तत्त्वों को मजबूत करने के लिए परस्पर विश्वास की रचना और उस पर अमल ही निर्णायक बात है। इसीलिए भारत की संविधान सभा ने इन गुणों को पिरोने, संजोने और उनकी रक्षा के विधान भी किए हैं - वे जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र पर अवलंबित नहीं हैं।

इसलिए सवाल यह है कि हम आदिवासियों, दलितों और अल्पसंख्यकों के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाते हैं जिससे भेदभाव को कम किया जा सके और लोगों में विश्वास का सृजन किया जा सके। यह काम आपसी भरोसे को और मजबूत करने से ही संभव है। इसीलिए संविधान के अनुच्छेद-19 (1) में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मूल अधिकारों में शामिल किया है। लेकिन इसमें जो दंड के लिए कानून बने हैं उनका आधार भी यही माना गया है कि यदि यह स्वतंत्रता घृणा, द्वेष और लोगों के अलगाव का कारण बनाने के लिए है तो दंड उसके प्रभावों के आधार पर होना चाहिए। इसलिए 'स्वतंत्र चिंतन प्रक्रिया' और उसकी रक्षा को आवश्यक माना गया

है। लेकिन जिस प्रकार हम कुछ नारों को गढ़ कर विपरीत या असहमति वाले चिंतनों को समाप्त करना चाहते हैं, वह स्वीकार्य नहीं हो सकता।

देश की एकता की रक्षा का मूल तत्त्व तो उन लोगों पर निर्भर है जो राज्य का संचालन करते हैं, जिनके हाथ में भावी स्वरूप रचने का अधिकार भी दिया गया है। और इसी के साथ, लोकतंत्र में निर्वाचन पद्धति के साथ ही प्रशासन और व्यवस्था का दायित्व निभाने के लिए कार्यपालिका की रचना की गई है। देश की एकता के लिए संकट का कारण तो तब होगा जब इस संस्थान की निष्ठा संविधान से अधिक कुछ कट्टरपंथियों और उनके द्वारा निर्धारित मान्यताओं की ओर बढ़ेगी। ये अधिकार संपन्न संस्थाएं जब जनता में अविश्वास का कारण बनेंगी तब इसे संकट की शुरुआत मानना चाहिए।

कानून और व्यवस्था की रक्षा के लिए जिस सुरक्षा-व्यवस्था की रचना हुई है, यदि वह अपने दायित्वों का निर्वाह न्यायालयों की परिधि ही नहीं बल्कि उनके कक्षों तक में करने में असमर्थ होती है तो आरोप यह लगेगा कि यह स्थिति संवैधानिक नहीं बल्कि वैचारिक दुराग्रह के कारण हो रही है और तब यह समाज बिखराव की ओर बढ़ेगा। जब सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश भी यह कहते हैं कि फांसी की सजाएं नब्बे फीसद से अधिक दलितों और अल्पसंख्यकों को ही होती हैं तो यदि यह स्थिति किन्हीं दोषों से ग्रस्त हैं तो इसका जिम्मेदान कौन है। जब हाशिमपुरा के बयालीस निर्दोषों को गोली मार कर उन्हें नहर में फेंकने वाले सारे लोग निर्दोष सिद्ध होंगे या बिहार में दलितों पर हमले करके उनको मौत की नौद सुलाने वाले निर्दोष माने जाएंगे तो इन कर्मियों के लिए अभियोजक और उससे जुड़े लोगों को उत्तरदायी मानना ही पड़ेगा।

इस प्रकार की प्रवृत्तियां कैसे रुकें, यह सोचना राज्य का दायित्व होगा, जिसके संचालक, लोकतंत्र में, जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हैं। प्रधानमंत्री की घोषणाओं के विपरीत अपने को उन्हीं का समर्थक बताने वाले अपनी संकुचित धारणाओं को राष्ट्रीय बता कर, शक्ति को ही कारक मान कर, सत्ता को बदनाम करने का कारण बनेंगे तो इससे सर्वाधिक नुकसान उन्हें ही पहुंचेगा जो सत्ता का संचालन कर रहे हैं। धरती मेरी माता है, मैं उसका पुत्र, इस कल्पना को क्या छोटा घरौंदा माना जा सकता है, या इसे विश्व के रूप में देखना होगा। हम यह कहते फूले नहीं समाते कि हमारी परंपरा वसुधैव कुटुम्बकम् की रही है। फिर हम क्यों देश और नागरिकता को संकीर्ण रूप में परिभाषित करना चाहते हैं!

उदार तबकों की बेरुखी ने

हमारी उजली परंपराएं संकीर्णता के हवाले कर दी हैं

■ अशोक वाजपेयी

गांधी ने कहा था कि छुआछूत का कोई औचित्य यदि उन्हें वेदों में दिखे तो वे वेदों को खारिज कर देंगे। यह निर्भयता गांधी जैसे हिंदू को परंपरा से ही मिली थी, निरी आधुनिकता से नहीं।

भारत के तथाकथित उदारचित्त समुदाय ने भी दशकों से - भारत की स्वतंत्रता के बाद से ही - भारतीय परंपरा के प्रति बेरुखी बरती है और उसकी व्याख्या और पक्षधरता का ज़िम्मा मानो संकीर्ण शक्तियों को सौंप दिया है। हम यह भूल ही गये कि हमारी परंपरा में ऐसा बहुत कुछ है जो हमें आगे ले जाने में मदद कर सकता है।

एक अजब कुतर्क इतनी बार किया गया है कि हमारी परंपरा में गतिशील तत्व बहुत कम हैं और वह अतीतजीवी है कि हम उसे तथ्य मानने लगे। जिसने भी परंपरा की बात की वह प्रतिक्रियावादी और प्रगतिविरोधी घोषित किया जाता रहा। अपनी परंपरा की आलोचनात्मक परीक्षा करने की बजाय संकीर्णतावश या नासमझी में हमने उसे निहायत आलोचना-विरोधी ढंग से या तो खारिज कर दिया या हाशिये पर डाल दिया।

एक दौर में विचार की अल्पसंख्यकता की भारतीय परंपरा में जगह थी। तब पंडित, पुरोहित, मौलवी, धार्मिक संस्थाओं और अनुष्ठानों की खिल्ली उड़ाई जा सकती थी

हम यह भूल गये कि भारत में इतिहास का भले महत्व न हो, परंपरा का है। वह तरह-तरह के रूपों में मौजूद है और उसकी अवहेलना करना यथार्थ की अवहेलना करना है। सही है कि उसमें अन्याय के भी कई तत्व मौजूद हैं, ऐसी धारणाएं हैं जो स्वतंत्रता-समता-न्याय के सिद्धांतों से मेल नहीं खातीं या उनके विरुद्ध पड़ती हैं। इन सबको, उचित ही खारिज किया जा सकता है। पर इसके बावजूद हमारी परंपरा में ऐसा बहुत कुछ है जो काम का हो सकता है। हमारी जिम्मेदारी है - बौद्धिक और सांस्कृतिक दोनों ही - कि हम परंपरा की नयी व्याख्याएं करें, उसे अंधानुकरण से बचाकर उसकी संजीवनी, संभावना और प्रश्नवाचकता को पहचानें और सामने लायें।

हमारी ज्ञान-संस्थाओं में भी पारंपरिक भारतीय ज्ञान को

लगभग विचार में ही नहीं लिया जाता। यह भूलकर कि एक समय में संसार में हमारी, प्रतिष्ठा हमारे ज्ञान के ही कारण थी। यह भूलकर कि ज्ञान सिर्फ पश्चिम में नहीं अन्यत्र भी उपजा-विकसित हुआ है और हमारी पुण्य-भूमि ज्ञानभूमि भी रही है। लेकिन हमारे दर्शनों, विचारसरणियों आदि में औरों की दिलचस्पी है पर हमारी नहीं। यह आत्मवंचना (खुद को धोखा देने का काम) और आत्मनिर्वासन औपनिवेशिक मानसिकता के चलते हममें आया पर हम क्यों उसकी समाप्ति के सत्तर वर्ष बाद भी उसकी गिरफ्त में हैं?

उदार तबकों की बेरुखी ने हमारी परंपराओं को संकीर्ण मनोवृत्तियों को सौंप दिया है जो उसकी बेहद अप्रामाणिक और मनमानी, विलगाव बढ़ाने वाली, जातीय अन्याय को वेदविहित बताने वाली दुर्व्याख्याएं कर रही हैं और उनसे साधारण जन दिग्भ्रमित हो रहे हैं। कुछ बरसों पहले बहुत ज़ोर-शोर से यह कहा जा रहा था कि हम एक ज्ञान समाज बनने की ओर बढ़ रहे हैं। आज भारत में हर तरह का ज्ञान संदिग्ध माना जा रहा है। हम सिर्फ पश्चिम के कौशलों में अपने को दीक्षित कर उनके तकनीकी मजदूर हो जाने पर गर्व कर रहे हैं।

हमें जल्दी से जल्दी इस दुष्चक्र से निकलना होगा। हमें उन बुनियादी प्रश्नों से रूबरू होना होगा जो हमारी परंपराओं ने लगातार पूछे हैं। पुणे में गोविंद पनसारे की पहली पुण्यतिथि पर यह सवाल उठा कि अगर आज कबीर होते तो कई तरह के क़ानूनों के तहत जेल में सड़ रहे होते। यह कैसा लोकतंत्र हमने बनाया है, कैसे क़ानून का राज्य है कि प्रश्न पूछना, तीखे प्रश्न पूछना, फिर वे सत्य की प्रकृति, राष्ट्र-राज्य की अवधारणा, ईश्वर के अस्तित्व, मनुष्य की नियति, समाज की स्थिति, सरकार की मर्यादाओं, दलितों-अल्पसंख्यकों-आदिवासियों-स्त्रियों के विरुद्ध अत्याचार, हिंसा आदि के बारे में हो तो उन्हें देशद्रोह माना जायेगा

या कम से कम माना जा सकता है?

विचार की अल्पसंख्यकता की भारतीय परंपरा में जगह थी। पंडित, पुरोहित, मौलवी, धार्मिक संस्थाओं और अनुष्ठानों की खिल्ली उड़ाने की मुहलत थी। आज अगर नहीं है तो इसे भारतीय परंपरा से कोई समर्थन नहीं मिल सकता, न अवधारणा के स्तर पर, न व्यवहार और अनुष्ठान के आधार पर।

एक उजली परंपरा बल्कि परंपरा-समुच्च को दिन-दहाड़े मैला और दूषित किया जा रहा है और हम हाथ पर हाथ धरे देख रहे हैं। गांधी के रूप में इसी परंपरा ने कुछ दशकों पहले अपने को आधुनिक और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाला बनाया था। गांधी ने कहा था कि छुआछूत का कोई औचित्य उन्हें वेदों में दिखा दिया जाये तो वे वेदों को खारिज कर देंगे लेकिन छुआछूत को नहीं मानेंगे। यह निर्भयता गांधी जैसे हिन्दू को परंपरा से ही मिली थी, निरी आधुनिकता से नहीं।

.

हमारे समय में उम्मीद की कितनी गुंजाइश है?

दशकों पहले गोविंद पनसारे ने गांधी जी की हत्या पर लिखा था - 'कार्रवाई अलग हो सकती है, मुखौटे अलग, भाषा अलग पर लक्ष्य एक है... गांधी की हत्या किसी निजी इरादे से नहीं की गयी थी। वह निजी बदला लेने पर आधारित कोई अपराध नहीं था। जो उनकी विचारधारा, उनका दृष्टिकोण पसन्द नहीं करते थे उन्होंने गांधी को मारा। जिन्होंने कत्ल किया उनकी अपनी विचारधारा थी। उन्होंने अपनी विचारधारा की सफलता के लिए गांधी को मारा।'

'वे शक्तियां जो दूसरी धार्मिक आस्थाओं से नफ़रत करती है और असमता की धारणा का समर्थन करती हैं, गांधी के समय से हमारे समय में अधिक शक्तिशाली हो गयी हैं।'

पनसारे ने अपने लेख का समापन करते हुए कहा - 'वे शक्तियां जो दूसरी धार्मिक आस्थाओं से नफ़रत करती है और असमता की धारणा का समर्थन करती हैं, गांधी के समय से हमारे समय में अधिक शक्तिशाली हो गयी हैं।' स्वयं गोविंद पनसारे की दिन-दहाड़े हत्या किसी निजी कारण से नहीं उनके विचारों से असहमत होने के कारण की गयी थी। यह हमारे समय की एक हत्यारी सचाई है : दाभोलकर और कलबुर्गी इस शिकार त्रयी के दो और नाम हैं।

मैंने पुणे में पनसारे की पहली पुण्यतिथि पर अपना

स्मृति व्याख्यान इन्हीं उद्धरणों से शुरू किया। फिर यह देखने की कोशिश की कि हमारे समय में उम्मीद की कितनी गुंजाइश बनती है। आज सफलता, दौलत और सुरक्षा के पीछे भागता-बढ़ता मध्यवर्ग है। दुनिया बदलने की आकांक्षा को तजकर अपनी निजी हालत, किसी भी तरह, बदलने के उद्यम हो रहे हैं। बने-बनाए उत्तरों में संतुष्ट होती जिज्ञासा है। लोग 'सब कुछ ठीक हो जायेगा' के दैनिक आश्वासन पर भरोसा कर रहे हैं भले कुछ भी ठीक या बेहतर होता नज़र नहीं आता।

एक तरह की आत्मतुष्ट नैतिकता आज विकसित और मान्य है जिसमें आत्मालोचन की कोई जगह नहीं है। समाज के बजाय बाज़ार में आस्था लगातार बढ़ रही है। चूँकि अधिकांशतः दूसरों द्वारा रचा ज्ञान इंटरनेट पर सुलभ है, स्वयं ज्ञान रचने की ज़रूरत ही नहीं बची है। परंपरा को जानने-समझने-अवगाहने की अनिच्छा है, उसका निरे अनुष्ठान में अवमूल्यन हो रहा है। तेज़ गति-हड़बड़ी-अधीरता का एक नया नागरिक शास्त्र हम पर थोप दिया गया है। हमारे पड़ोस ध्वस्त हो चुके हैं और हम दरबों में रहकर सुरक्षित हैं।

तीन प्रमुख व्यवस्थाएं हमारे समय में लगातार हिंसक हो रही हैं : राजनीति, धर्म और बाज़ार। इनमें एक तरह का अधोषित पर स्पष्ट गठबंधन है। तीनों में ही हमारी सैवैधानिक मूल्य-त्रयी स्वतंत्रता-समता-न्याय लगभग हर दिन अपमानित और अवमूल्यित हो रहे हैं। प्रश्नवाचकता, असहमति, संवाद-विवाद को रोकने-थामने-झेलने की वृत्तियां मुखर और सशक्त हो रही हैं। अभिव्यक्ति, खान-पान, पुस्तकों, विचारों आदि पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाये जा रहे हैं। एक नये तरह का सामाजिक पाखंड दरपेश है। 'कहो कुछ, करो कुछ' और 'अगर कहे के विरुद्ध कुछ होता दिखे तो उसके बारे में चुप रहो'। वचन की शुद्धता बची रहे, कर्म भले उससे अलग होता रहे।

सार्वजनिक धन की खुल्लमखुल्ला लूट मची है। हज़ारों करोड़ों के बैंक ऋणों को जो कि ज्यादातर कॉरपोरेट समूहों को दिये गये थे, करदाताओं के पैसों से 'राइट ऑफ' करने का क़दम उठाया जाने वाला है। बाज़ार के बढ़ने और राज्य के कमज़ोर पड़ने का यह एक और उदाहरण है। सारे आंकड़े बता रहे हैं कि विकास की जिस तीव्र गति का वायदा किया गया था वह धीमी है और बढ़ती असमानता, अन्याय और शोषण के प्रति असन्तोष बढ़ रहा है। ऐसे में सिवाय इस बात के कि उम्मीद करना हमारा सहज स्वभाव है, क्या उम्मीद की जाये?

शेष पृष्ठ 20 पर

मातृभाषाओं को बचाने की जरूरत

■ सदानंद शाही

समय आ गया है कि हम भाषा के सवाल को गंभीरता से लें। भाषा मनुष्य होने की शर्त है। इसे सिर्फ अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में सीमित करना मुनासिब नहीं। भाषा के लिए सभ्य और असभ्य, विकसित और अविकसित, संपन्न और दरिद्र जैसे पैमाने लागू करना भी ठीक नहीं है। इन्हीं मान्यताओं के चलते हम अपनी भाषिक संपदा को गंवाते चले आ रहे हैं। हमारे औपनिवेशिक प्रभुओं ने बताया कि हमारी मातृभाषाएं असभ्य, अविकसित और दरिद्र हैं। इस औपनिवेशिक ज्ञान ने मातृभाषाओं के प्रति एक सहज अवमानना का भाव पैदा कर दिया। हम सभ्य, विकसित और संपन्न होने के लिए दूसरी भाषाओं का मुंह जोहने लगे और इस चक्र में अपनी मातृभाषाओं से विमुख होते चले गए। मातृभाषाओं की जगह राष्ट्रभाषा हिंदी हमारे सामने आई। दुर्भाग्य से हम हिंदी को लेकर खास तरह की बेपरवाही बरतते रहे हैं। अंगरेजी के लिए सम्मान जरूर है, लेकिन उसके मूल में भाषा प्रेम नहीं है। हमें अंगरेजी सिर्फ रोजी-रोजगार के लिए नहीं, बल्कि प्रभुत्व और प्रभुता के लिए चाहिए।

मातृभाषा से विमुखता की प्रवृत्ति भाषा विहीनता की ओर ले जाती है। यह भाषा विहीनता हमारी मनुष्यता को विकलांग बना रही है। धीरे-धीरे हम ऐसे समाज में बदल रहे हैं, जो मातृभाषाओं से पीछा छुड़ाने को बेताब, हिंदी के प्रति बेपरवाह और अंगरेजी के सामने लाचार है। यह तथ्य हमें समझना होगा कि अंगरेजी हो या संसार की कोई अन्य भाषा, मातृभाषा के रास्ते ही हम उस तक पहुंच सकते हैं।

मातृभाषाओं के माध्यम से हम बहुत कुछ ऐसा सीखते हैं जो हमें सामाजिक और समावेशी बनाता है। मातृभाषाओं में एक खास तरह की सामूहिकता होती है। वह हमें समावेशी होना सिखाती है। आज दुनिया भौतिक उन्नति और विकास के पीछे पागल हो रही है, बिना यह परवाह किए कि अंतःकरण का आयतन संक्षिप्त होता जा रहा है। भाषा से अंतःकरण का निर्माण होता है, उसे गहराई मिलती है। भाषा के प्रति हमारी बेपरवाही से हमारा अंतःकरण छीज रहा है। आलम यह है कि हम दिनोंदिन भाषाई संपदा को नष्ट हो जाने दे रहे हैं।

भाषाविद गणेश देवी के सर्वे के मुताबिक भारत में

तकरीबन नौ सौ भाषाएं बोली जाती हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में सोलह-सत्रह सौ भाषाएं थीं। पिछले पचास-साठ वर्षों में यह संख्या आधी रह गई है। आशंका व्यक्त की गई है कि आने वाले पचास वर्षों में इनमें से लगभग एक तिहाई भाषाएं खत्म हो जाएंगी।

भाषाओं के खत्म होने के साथ हमारा मनुष्य होना ही खतरे में पड़ गया है। भारत की भाषा बहुलता हमारी धाती है। सत्ताएं इसे समझने में नाकाम रही हैं। वे भाषा बहुलता को समस्या समझती और भाषा को वर्चस्व का हथियार बनाती हैं। वर्चस्व से जुड़ कर भाषा अपनी मूल प्रकृति- संवादधर्मिता- से अलग हो जाती और वैमनस्य पैदा करती है। इसलिए मातृभाषाओं का सवाल हमारे मनुष्य बने रहने के सवाल से जुड़ा है।

साम्राज्य और पूंजी के वर्चस्व वाली आधुनिक दुनिया भाषाओं के बारे में बेहद असंवेदनशील हुई है। पिछली शताब्दी में दुनिया की असंख्य भाषाएं या तो विलुप्त हो गई हैं या फिर होने के कगार पर हैं। फिलहाल पूरी दुनिया में तीन हजार भाषाएं हैं। ऐसी आशंका है कि शताब्दी के अंत तक उनमें से केवल तीन सौ बचें। शायद इसीलिए उन्नीस सौ निन्यानबे में यूनेस्को ने मातृभाषाओं को संरक्षित और विकसित करने की जरूरत पर बल दिया और इक्कीस फरवरी को अंतरराष्ट्रीय मातृभाषा दिवस के रूप में मनाने का प्रस्ताव पारित किया। इसके लिए इक्कीस फरवरी की तिथि इसलिए निश्चित की गई क्योंकि इसी दिन 1952 में बांग्लादेश (तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान) में ढाका विश्वविद्यालय के बांग्ला भाषा को मान्यता देने की मांग करते हुए चार प्रदर्शनकारी छात्र शहीद हो गए। आगे चल कर मातृभाषा के लिए शुरू हुए इस आंदोलन की परिणति बांग्लादेश के उदय में हुई।

प्रत्येक भाषा की अपनी विश्व दृष्टि होती है, अपना देशज ज्ञान, प्रतिभा कोश और साहित्य होता है, जो भाषाओं के साथ नष्ट हो जाता है। भाषाओं के नष्ट होने की एक वजह उनको बोलने वाले लोगों का जीवन स्तर है। कुछ भाषाओं के साथ पिछड़ा, गंवारू होने की चिप्पी लगा दी गई है। इसलिए लोग उन भाषाओं से अपना संबंध छिपाते हैं। यह भी नहीं कि जिन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या कम है, उन्हीं पर खत्म होने का खतरा

मंडरा रहा है। भेदभाव का शिकार होने के नाते भी भाषाओं का अस्तित्व खतरे में है।

भाषा की बहुलता हमारी धाती है, जबकि सत्ताएं भाषा बहुलता को समस्या समझने की भूल करती हैं और भाषा को वर्चस्व का हथियार बनाती हैं। इसी से भाषाओं को लेकर हीनताबोध उपजता है। भाषाओं के बीच संवाद नहीं हो पाता। जबकि भाषा की प्रकृति संवादधर्मी है। इसलिए जरूरत भाषाओं के बीच वैमनस्य पैदा करने वाली शक्तियों को पहचानने और उन्हें व्यर्थ करने की है। महान अफ्रीकी लेखक न्युंगी वा थ्यांगो कहते हैं - अनेक भाषाओं वाला विश्व विभिन्न रंगों वाले फूलों के मैदान जैसा होना चाहिए। कोई ऐसा फूल नहीं है, जो अपने रंग या आकार के कारण दूसरे फूल से बढ़ कर हो। ऐसे सभी फूल अपने रंगों और आकारों की विविधता में अपने सामूहिक पुष्पत्व को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार हमारी विभिन्न भाषाएं एक सामूहिकता के बोध को व्यक्त कर सकती हैं और उन्हें करना चाहिए। भाषाएं इस तरह मिलें जैसे नदियां मिलती हैं। हमें भाषाओं के लोकतंत्र को समझाना चाहिए और उसकी अवतारणा करनी चाहिए। तभी हम भाषा की निधि को नष्ट होने से बचा सकेंगे और उसे भावी पीढ़ी को सौंप सकेंगे।

स्वाधीनता आंदोलन के साथ ही वासुदेवशरण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे मनीषियों ने जनपदीय आंदोलन की बात की थी। यह जनपदीय भावना भाषाई वैमनस्य नहीं, भाषाओं के सामंजस्य की बात करती

है। इन मनीषियों की सोच थी कि जनपदों में विकसित हुआ साहित्य, संगीत-कला कौशल, ज्ञान-विज्ञान उपेक्षा की वस्तु नहीं है। उनमें हजारों वर्ष का मानवीय संघर्ष, अनुभव और चेतना का इतिहास संचित है। इसलिए जनपदीय साहित्य का अध्ययन और मूल्यांकन किया जाना चाहिए। देखना यह चाहिए कि इस निधि के भीतर ऐसा क्या है, जो हमारे आधुनिक जीवन को बेहतर बनाने के काम आ सकता है।

हमारे विश्वविद्यालयों में देशी भाषाएं प्रायः लोक साहित्य के रूप में पढ़ाई जाती हैं। कुछ-कुछ कृपा भाव से। यह नाकाफी ही नहीं, बल्कि चिंताजनक है। अपने परिवेश की इतिहास चेतना से रहित और मातृभाषा से वंचित और भाषाई विपन्नता के शिकार हो चुके पढ़े-लिखे लोगों ने भाषा की बहुआयामी निधि को गंवा दिया है। यह निधि, यह संपदा भाषा का यह सौंदर्य कहां बचा है? गांवों में। जिसे बे-पढ़ी-लिखी जनता कहा जाता है उसने इस संपत्ति को बचाया है। इसलिए भी इस महान संपदा का संरक्षण और संवर्धन जनपदीय अध्ययन के रास्ते ही संभव है। भूमि, उस पर बसने वाला जन और उस जन की संस्कृति का त्रिकोणात्मक अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन से हम यह सीख सकेंगे कि विविधता अभिशाप नहीं है। बल्कि यह पृथ्वी के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध होने के कारण है। मातृभाषाओं को उपयोग और उपभोग के नजरिए से ऊपर उठ कर जनपदीय अध्ययन के नजरिए से देखने-जानने की जरूरत है।

हमारी उजली परंपराएं संकीर्णता के हवाले...

पृष्ठ 18 का शेष

संघ-परिवार 90 वर्ष से भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने का विफल प्रयत्न करता रहा है और अब सत्तारूढ होने पर उसकी अधीरता समझ में आती है

हमारी बहुलता और वैचारिक-सांस्कृतिक विविधता सदियों से भारत का सत्व रही है और उसे अंततः नष्ट या हाशिये पर नहीं डाला जा सकता। अगर संघ परिवार में कट्टरता बढ़ रही है तो अन्य विचार दृष्टियों और संगठनों में, सौभाग्य से, वह घट रही है। एक व्यापक उदार बिरादरी बनकर सक्रिय और मुखर हो रही है। साम्प्रदायिकता, दलित-विरोध, धार्मिक विद्वेष आदि के विरुद्ध एक अघोषित संयुक्त मोर्चा उभर रहा है। छात्रों में बढ़ता

असंतोष और सकर्मकता शुभ लक्षण कहे जा सकते हैं। अब तक पालतू लगते ज्यादातर मीडिया में भी कुछ साहस दिखायी देने लगा है। देशद्रोह और राष्ट्रवाद को लेकर जो व्यापक बहस छिड़ी है उसमें समावेशी और बहुलता-पोषक दृष्टि भी अपने को प्रभावशाली ढंग से विन्यस्त कर रही है।

इसलिए यही समय है कि सत्ताकांक्षा से मुक्त स्वतंत्रता-समता-न्याय के पक्ष में सत्याग्रही सिविल राजनीति व्यवस्थित ढंग से स्पष्ट और सक्रिय हो। उसे राजनीति के बजाय समवती लोकनीति कहना बेहतर होगा। वह उम्मीद का दूसरा नाम और मुकाम हो सकती है।

पिछले महीने पुणे शहर में लोग दिवाली मना रहे थे और उधर उस अमावस की रात श्मशान में सैकड़ों लोगों के बीच कविताएं पढ़ी जा रही थीं। एक कविता संग्रह का विमोचन हुआ, कुछ सांस्कृतिक समूह भी बीच-बीच में अपनी प्रस्तुतियां दे रहे थे। पुणे के उपनगर बोपोडी की श्मशान भूमि का परिसर एक अलग ढंग के कार्यक्रम का गवाह बना था। यह महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति, सिद्धार्थ संघ और सिद्धार्थ महिला संघ का आयोजन था। वहां गाया गया यह गीत काफी चर्चित हुआ- 'बो रहे हैं हम प्रकाश बीज'। अब जल्द ही सिमेटरी यानी ईसाइयों की श्मशान भूमि में विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए एक जागरूकता बैठक का आयोजन होगा।

भूत-प्रेतों के अस्तित्व या उनके विचरण को लेकर समाज में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं को चुनौती देने के लिए अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति के बैनर तले आयोजित इस कार्यक्रम ने बरबस ही कुछ समय पहले कर्नाटक के बेलागावी सिटी कॉर्पोरेशन के अंतर्गत आने वाले वैकुंठ धाम श्मशान में हुए एक अन्य आयोजन की याद ताजा कर दी। कर्नाटक के आबकारी मंत्री सतीश जरकीहोली ने सैकड़ों लोगों के साथ श्मशान में रात बिताई थी और वहां भोजन भी किया था। याद रहे कि महाराष्ट्र की तर्ज पर कर्नाटक विधानसभा में अंधश्रद्धा विरोधी बिल लाने में अत्यधिक सक्रिय रहे सतीश जरकीहोली दरअसल लोगों के मन में बैठे इस मिथक को दूर करना चाहते थे कि ऐसे स्थानों पर भूत निवास करते हैं।

'काला जादू कानून' नाम से अधिक चर्चित कानून के निर्देशों के मद्देनजर डेढ़ सौ से ज्यादा पाखंडी बाबाओं को जेल की सलाखों के पीछे भेजा जा चुका है, जो चमत्कार दिखा कर लोगों को गुमराह करा रहे थे। एक तरफ आस्था का दोहन करते तमाम बाबाओं, साध्वियों की तादाद में बढ़ोतरी होती दिख रही है, वहीं यह जानना दिलचस्प है कि ऐसी समांतर प्रक्रियाएं भी देश में चल रही हैं जो भारत के संविधान की धारा 51 ए के दायरे में सम्मिलित कामों को ही अपने स्तर पर आगे बढ़ाती दिखती हैं। यह धारा मानवीयता और वैज्ञानिक चिंतन को बढ़ावा देने में सरकार के प्रतिबद्ध रहने की बात करती है।

कुछ समय पहले उत्तर प्रदेश से एक खबर आई थी कि वहां समूचे गांव ने अंधश्रद्धा आदि से मुक्त होकर तार्किकता और नास्तिकता का रास्ता अपनाया है। कानपुर देहात के पास मोहम्मदपुर गांव के बारे में बताया गया था कि वहां के निवासी

तमाम धर्मों को झूठ समझते हैं और दिवाली मनाने के बजाय गणतंत्र दिवस मनाना पसंद करते हैं। लोग इस बात पर फख्र महसूस करते हैं कि वे देश के ऐसे इलाके में हैं, जहां अंधविश्वास सबसे कम पाया जाता है। यह संभव हो पाया 'अर्जक संघ' के जरिए। कानपुर, बस्ती, फैजाबाद, प्रतापगढ़, वाराणसी के अलावा बिहार और झारखंड जैसे पड़ोसी राज्यों में फैले इस संगठन के सदस्य बत्तीस पेज की एक पुस्तिका पर यकीन करते हैं जो 'अर्जक संघ' के संस्थापक रामस्वरूप वर्मा ने लिखी थी। वे 1967 में चरण सिंह के मंत्रिमंडल में वित्तमंत्री थे।

चाहे महाराष्ट्र, कर्नाटक या गोवा में अपनी तीन सौ शाखाओं के जरिए सक्रिय महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति की गतिविधियां हों या पंजाब का नई बुलंदियों को छूता तर्कशील आंदोलन या फिर अर्जक संघ। ऐसे संगठित प्रयासों के बरक्स ऐसे उदाहरण भी सामने आ रहे हैं, जहां तरह-तरह के अनाचारों में लिप्त बाबाओं के विरोध में लोग स्वतःस्फूर्त ढंग से सड़कों पर उतर रहे हैं। सुदूर ओड़िशा पिछले दिनों ऐसे कई बाबाओं के खिलाफ एक नई तरह की सरगमी का गवाह बना। जनता के सड़क पर उतरने के बाद इन बाबाओं को जेल भी भेजा गया। जनता के आक्रोश को देखते हुए ओड़िशा में लंबे समय से पैर जमाए कई बाबाओं ने वहां से भागना ही मुनासिब समझा है। लेकिन ऐसे तात्कालिक आंदोलनों से अंधश्रद्धा के खिलाफ लड़ाई बहुत दूर तक नहीं चलने वाली है। इन्हें संगठित शक्ति देने और ऐसे कानूनों का निर्माण करने की जरूरत है, जिनके चलते जनता की आस्था का दोहन करने वाले बाबाओं की नकेल कसी जा सके। इसका आगाज नरेंद्र दाभोलकर ने किया था, जिन्हें इसकी कीमत अपनी जान देकर चुकानी पड़ी।

पचास के दशक के उत्तरार्द्ध में जवाहरलाल नेहरू ने धारा 51 ए को लेकर अपना मसविदा संसद के सामने पेश किया था, जिस पर मुल्क की संसद ने अपनी मुहर लगाई थी। उन दिनों की संसद की बहसें बताती हैं कि सांसदों के विशाल बहुमत ने अंधश्रद्धा से मुक्त होकर स्वाधीन भारत की प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का इजहार किया था। बहरहाल, श्मशान में आयोजित कवि सम्मेलन से लेकर बाबाओं के विरोध में खुद लोगों का सड़क पर उतरना इस बात का गवाह है कि स्वाधीन भारत की यह पीढ़ी तर्क आधारित बहसों और भावनाओं को आगे बढ़ा रही है।

रंग-रंग की होली

■ रमेश सर्राफ धमोरा

राजस्थान का शेखावाटी अंचल अपनी विभिन्न विशेषताओं के लिए पूरे देश में विख्यात है। यहां की विशेषताओं में से ही एक है यहां के मस्ती भरे लोकोत्सव और उन्हें मनाने का तरीका। होली का पर्व पूरे देश भर में धूमधाम से मनाया जाता है। शेखावाटी अंचल में होली एक सुप्रसिद्ध लोकपर्व है। इस पर्व को इस क्षेत्र में कुछ अलग ढंग से मनाया जाता है। उमंग और मस्ती भरे पर्व होली की शेखावाटी क्षेत्र में बसंत पंचमी के दिन से शुरुआत हो जाती है।

फाल्गुन शुरू होते ही शेखावाटी में होली का हुड़दंग शुरू हो जाता है। हर मोहल्ले में चंग पाटी होती है। चंग नृत्य शेखावाटी क्षेत्र का मशहूर नृत्य है। इसमें प्रत्येक पुरुष चंग बजाते हुए नृत्य करता है। यह होली के दिनों में किया जाता है। चंग को पुरुष अपने एक हाथ से थाम कर और दूसरे हाथ से कटरवे का ठेका बजाते हुए वृत्ताकार घेरे में नृत्य करते हैं। घेरे के मध्य में एकत्रित होकर धमाल और होली के गीत गाते हैं। क्षेत्र में होली के एक पखवारे पहले गींदड़ शुरू हो जाता है। जगह-जगह भांग घुटती है। हालांकि अब ये नजारे कम ही देखने को मिलते हैं। जबकि, शेखावाटी में ढूँढ़ का चलन अभी है। परिवार में बच्चे के जन्म होने पर उसका ननिहाल पक्ष और बुआ कपड़े और खिलौने होली पर बच्चे को देते हैं।

होली, बसंत ऋतु का प्रमुख पर्व है और बसंत पंचमी इस ऋतु के प्रारंभ होने की द्योतक है। इसलिए इस अंचल में बसंत पंचमी के दिन से चंग (ढप) बजाकर होली के पर्व की विधिवत शुरुआत कर दी जाती है। शेखावाटी अंचल के हर गांव कस्बे में रात्रि में लोग एकत्रित होकर चंग की मधुर धुन पर देर रात्रि तक धमाल (लोकगीत) गाते हुए मोहल्लों में घूमते रहते हैं। होली के अवसर पर बजाया जाने वाला ढप भी इसी क्षेत्र में ही विशेष रूप से बनाया जाता है। ढप की आवाज तो ढोलक की माफिक ही होती है, मगर बनावट ढोलक से सर्वथा भिन्न। ढप ढोलक से काफी बड़ा और गोल घेरेनुमा होता है। होली के प्रारंभ होते ही गांवों में लोग अपने-अपने चंग (ढप) संभालने लगते हैं।

क्षेत्र में होली के पर्व पर चंग की धुन पर गाई जाने वाली धमालों में यहां की लोक संस्कृति का ही वर्णन होता है। इन धमालों के

माध्यम से जहां प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं को अपने प्रेम का संदेश पहुंचाते हैं वहीं श्रद्धालु धमालों के माध्यम से लोक देवताओं को याद कर सुख समृद्धि की कामना करते हैं। धमाल के साथ ही रात्रि में नवयुवक विभिन्न प्रकार के स्वांग भी निकाल कर लोगों का भरपूर मनोरंजन करते हैं। गांवों में स्त्रियां रात्रि में चौक में एकत्रित होकर मंगल गीत, बधावे गाती हैं। होली के दिनों में आधी रात तक गांवों में उल्लास छाया रहता है।

शेखावाटी अंचल में होली पर कस्बों में विशेष रूप से गींदड़ नृत्य किया जाता है। गुजराती नृत्य गरबा से मिलते-जुलते गींदड़ नृत्य में काफी लोग विभिन्न प्रकार की चित्ताकर्षक वेशभूषा में नगाड़े



की आवाज पर एक गोल घेरे में हाथ में डंडे लिए घूमते हुए नाचते हैं और आपस में डंडे टकराते हैं। प्रारंभ में धीरे-धीरे शुरू हुआ यह नृत्य रफ्तार पकड़ता जाता है। इसी रफ्तार में डंडों की आवाज भी टकरा कर काफी तेज गति से आती है और नृत्य और

आवाज का एक अद्भुत दृश्य उत्पन्न हो जाता है, जिसे देखने वाला हर दर्शक रोमांचित हुए बिना नहीं रह पाता है। होली के अवसर पर चलने वाले इन कार्यक्रमों से शामिल होने वाले लोग स्वयं में एक नई स्फूर्ति का संचार महसूस करते हैं।

इन नृत्यों की लोक परंपरा को जीवित रखने के लिए क्षेत्र की कुछ संस्थाएं कुछ समय से काम रही हैं। वे चंग, गींदड़ कार्यक्रमों का आयोजन करती हैं। झुंझुनू, फतेहपुर शेखावाटी, रामगढ़ शेखावाटी, मंडावा, लक्ष्मणगढ़, कस्बों का गींदड़ नृत्य पूरे देश में प्रसिद्ध है। इसी कारण चंग और गींदड़ नृत्य का आयोजन शेखावाटी से बाहर भी होने लगा है। धुलंडी के दिन इन नृत्यों का समापन होता है। मगर क्षेत्र में बढ़ती शराबखोरी के प्रचलन के कारण लोग रात्रि में घरों से बाहर निकलने से डरने लगे हैं और गांवों में भी पहले की तरह सामंजस्य नहीं रहा। इसके अलावा ऑडियो कैसेटों के बढ़ते प्रचलन से भी इस लोकपर्व को कृत्रिम सा बना दिया है। कैसेटों की वजह से पर्व की मौलिकता ही समाप्त होने जा रही है। अगर समय रहते होली पर छा रही कुरीतियों की समाप्ति का प्रयास नहीं किया गया तो यह पर्व अपना मूल रूप खो बैठेगा।

अमरनाथ यात्रा का सच

■ प्रो. राम पुनियानी

अमरनाथ यात्रा, कश्मीर घाटी की महत्वपूर्ण धार्मिक, सांस्कृतिक, पर्यटन गतिविधियों में से एक है। इस यात्रा का संचालन स्थानीय नागरिकों-जिनमें मुस्लिम बहुसंख्यक थे, द्वारा किया जाता था। 2001 में 'श्री अमरनाथ श्राईन बोर्ड' का गठन किया गया और ठीक-ठीक चल रही व्यवस्थाओं को बोर्ड के हवाले कर दिया गया। बोर्ड के अध्यक्ष राज्य के राज्यपाल थे व राज्यपाल के प्रमुख सचिव इसके मुख्य कार्यकारी अधिकारी थे।

धीरे-धीरे बोर्ड अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करने लगा और वे काम भी करने लगा जो उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं थे। बोर्ड का अध्यक्ष राज्यपाल के होने से उसे कोई रोकने-टोकने वाला नहीं था। बोर्ड ने पहलगाम गोल्फ़कोर्स पर निर्माण कर डाला। 2005 में, नियमों के विपरीत, बोर्ड को यात्रियों के उपयोग के लिए वनभूमि के इस्तेमाल की इजाज़त दे दी गई। इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि बोर्ड की इस गैर-क़ानूनी मांग को मंजूरी देने वाली वन अधिकारी, बोर्ड के सीईओ की पत्नी थी। इस इजाज़त से ही इस प्रक्रिया की शुरुआत हुई जिसके गंभीर नतीजे आज हमारे सामने हैं। राज्य सरकार ने शुरू में वन विभाग के इस निर्णय को ग़लत ठहराया। परंतु हाईकोर्ट ने सरकार के निर्णय पर रोक लगा दी। इसके बाद राज्य सरकार दबाव में आ गई और उसने उक्त भूमि बोर्ड को हस्तांत्रित कर दी। बाद में यह हस्तांत्रण रद्द कर दिया गया। यह जानना दिलचस्प होगा कि अमरनाथ यात्रा हमारे देश के कई अन्य धार्मिक आयोजनों की तरह भारत की मिलीजुली संस्कृति का प्रतीक है। अमरनाथ गुफा की खोज एक मुस्लिम चरवाहे मालिक ने 1850 के दशक में की थी। इसी के बाद से अमरनाथ यात्रा की शुरुआत हुई। मालिक परिवार के लोग 2001 तक इस यात्रा के इतिज़ामात से जुड़े थे। यात्रा का प्रबंध श्राईन बोर्ड के हाथों में आते ही बोर्ड ने पूरी यात्रा और उसके प्रदर्शन को भगवे रंग में रंगना शुरू कर दिया। यात्रा का पूरे देश में जमकर प्रचार-प्रसार भी किया गया। और नतीजे में तीर्थ यात्रियों की संख्या में भारी उछाल आया। जहां 1989 तक अमरनाथ यात्रियों की संख्या 12 हज़ार थी वहीं 2007 में 4 लाख से अधिक श्रद्धालुओं ने यात्रा में भाग लिया। जहां पहले यात्रा साल के केवल दो सप्ताहों में सम्पन्न की जाती थी, अब इस अवधि को बढ़ाकर 10 सप्ताह कर दिया गया है। इस सबका विपरीत पर्यावरणीय प्रभाव साफ़ दिखाई पड़ रहा है। सैंकड़ों टन मल विषा और प्लास्टिक और पॉलीथिन के कचरे

ने निकट की अद्वितीय रूप से सुंदर "लिइन्डर नदी" को एक गंदे नाले में बदल दिया है।

कुछ वर्ष पहले पर्यावरण प्रदूषण ही शिवलिंग के पिघलने का कारण भी बना था और उस पर सूखी बर्फ डाल कर उसके अस्तित्व को तीर्थ यात्रियों के दर्शन के लिए बचाए रखा गया था। जहां भाजपा एक तरफ़ पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर तीर्थ यात्रियों की संख्या सीमित रखने की मांग कर रही है (150 यात्री प्रतिदिन) वहीं दूसरी ओर यात्रा का आक्रामक ढंग से प्रचार कर यात्रियों की संख्या में वृद्धि करने में योगदान दे रही है। इससे क्षेत्र के पर्यावरण की अपूर्णीय क्षति होगी। इन सब मुद्दों से बेख़बर अमरनाथ श्राईन बोर्ड यात्रियों की संख्या बढ़ाने और अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करने में जुटा हुआ है। राज्यपाल के अध्यक्ष होने का लाभ उठाकर बोर्ड ने पहलगाम विकास प्राधिकरण के द्वारा किए जाने वाले कार्यों को भी खुद ही करना शुरू कर दिया है।

श्राईन बोर्ड को ज़मीन अलाट करने के सरकार के आदेश से पहले से ही तनाव और आतंकग्रस्त घाटी के मुसलमानों में भय की एक नई लहर फैल गई। उन्हें यह डर था कि इस भूमि पर हिंदुओं को बसा कर घाटी के मुस्लिम बहुल चरित्र को बदलने का प्रयास किया जाएगा। इस भय का एक प्रमुख कारण यह भी था कि कुछ वर्ष पहले तत्कालीन इज़राइली विदेश मंत्री शिमोन पैरेस ने भाजपा नेता एल.के. आडवानी को सार्वजनिक रूप से ऐसा करने की सलाह दी थी। उन दिनों आडवानी देश के गृहमंत्री थे। यह सचमुच बहुत विडंबनापूर्ण है कि कश्मीर जो भारतीय संस्कृति की विविध धाराओं का शानदार संगम है, आज इस मुक़ाम पर पहुंच गया है। कश्मीरियत में वेदांत के मूल्य, सूफ़ी संतों की शिक्षाएं और गौतम बुद्ध के अहिंसा के सिद्धांत शामिल हैं, अब वे कमज़ोर नज़र आने लगे। कश्मीर 60 वर्ष पहले भारत में सम्मिलित होने के लिए राज़ी हुआ था। इन 60 वर्षों में विलय की संधि की सभी शर्तों का जमकर उल्लंघन हुआ। हर समस्या का समाधान सेना के ज़रिए ढूंढने की कोशिश की गई। यह कितना दुखद है कि सेना जिसका काम हमें बाहरी शत्रुओं से बचाना है, कश्मीर में भारत सरकार की पॉलीसियां लागू करने का एकमात्र प्रभावित तंत्र है। हमें इस विषय पर गंभीरता से आत्मचिंतन

शेष पृष्ठ 27 पर

प्रभुत्व बरकरार रखने के लिए जाट संघर्ष

■ सुरिंदर एस जोधका

हरियाणा सांप्रदायिक और जाति आधारित हिंसा के लिए जाना जाने वाला राज्य नहीं है पर बीती उन्नीस फरवरी से लेकर पांच दिनों तक यह राज्य अपने इतिहास के सबसे भयानक दंगों का गवाह बना जिसमें तीस के करीब लोग मारे गए और करोड़ों की संपत्ति फूँक दी गयी, नष्ट कर दी गयी। इसकी वजह जाट समुदाय के द्वारा अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल किये जाने और इसके तहत आरक्षण की मांग को लेकर चलाया गया आंदोलन था। प्रशासन में इस आंदोलन को लेकर असमंजस की स्थिति इसलिए बनी रही क्योंकि जाट समुदाय आर्थिक और सामाजिक रूप से आगे बढ़ा हुआ माना जाता रहा है। ऊपर से असमंजस से भरी भाजपा सरकार के मुख्यमंत्री पहली बार चुने गए विधायक हैं लिहाजा अनुभव में थोड़े कच्चे भी हैं जिससे स्थिति को काबू में करना थोड़ा और भी मुश्किल हो गया। फिलहाल तो हिंसा खत्म हो गयी है पर यह दानव कभी भी अपना सर उठा सकता है...

जाति को सबसे बेहतर ढंग से क्षेत्रीय सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। वहीं शास्त्रीय पाठों पर आधारित इसका अधिक लोकप्रिय परिप्रेक्ष्य इसे 'वर्ण व्यवस्था' के रूप में ग्रहण करता है जोकि श्रेणीगतता का एक स्थूल मॉडल भर है जिसे कथित तौर पर पूरे भारत के सन्दर्भ में सही माना जाता है। पर इस मॉडल से स्थिति साफ होने के बजाये उलझती अधिक है। प्राचीन कृतियों से निकाले गए इस मॉडल की लोकप्रियता और स्वीकार्यता बढ़ाने में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की महती भूमिका थी। इस साम्राज्य ने इस मॉडल के तहत सन 1872 में जातियों की गणना शुरू की थी। पर बावजूद तमाम रिपोर्टों के जिनके अनुसार इस मॉडल से भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में जाति की समझ बढ़ने के बजाये बाधित हो रही है उन्होंने जाति को लेकर अपनी अवधारणा में कोई परिवर्तन नहीं किया।

बाद में समाज विज्ञानियों ने वर्ण के स्थान पर 'जाति' की श्रेणी का इस्तेमाल करना शुरू किया जोकि नातेदारी पर आधारित थी और अनुभवजन्य ज्ञान के अधिक निकट थी। पर वे भी जाति को एक अखिल भारतीय हकीकत के रूप में देखते आये जो लगभग-लगभग हर क्षेत्र में श्रेणीगतता के उसी स्वरूप में नुमाँया होती है।

कालांतर में यही परिप्रेक्ष्य भारतीय राज्य द्वारा आरक्षण की नीति तय करने के लिए स्वीकार कर लिया गया और परिणामतः धीमे-धीमे संस्थानीकृत भी होता गया।

इस परिप्रेक्ष्य का यह असर हुआ है की अब स्वयं जातियाँ भी अपने आप को इसी परिप्रेक्ष्य के तहत देखने लगी हैं और भारतीय सामाजिक संरचना की इस सरकारी व्याख्या के अनुसार अपने आप को 'वर्ण' श्रेणीगतता के तहत पिछड़ा हुआ मानकर आरक्षण की मांग करने लगी हैं। यहाँ तक की वे राजनीतिक कार्यकर्ता जो जाति से लड़ने के लिए प्रतिबद्ध हैं वे भी जाति को इसी फ्रेम में रखकर देखते हैं। पर इस मॉडल की सीमाओं को समझने के लिए पंजाब और हरियाणा में जाटों के उदाहरण का उल्लेख किया जा सकता है। भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य पर सामान्य नज़र रखने वाला भी जानता होगा की जाट समुदाय ग्रामीण क्षेत्रों में कितना प्रभुत्वशाली समुदाय रहा है। संसदीय लोकतंत्र की स्थापना ने उन्हें क्षेत्रीय स्तर पर बेहद सशक्त बनाया है। यही नहीं वे अपने आस-पास दूसरों या अन्यो से स्वयं को सामाजिक रूप से भी श्रेष्ठ समझते हैं और ये 'अन्य' कभी भी उनके इस दावे से मतभेद प्रदर्शित नहीं करते।

इस जाट प्रभुत्व के प्रमुख कारण रहे हैं कृषि योग्य भूमि पर उनका गहरा नियंत्रण, उनकी जनसँख्या और गाँव से बाहर के उनके गहरे संपर्क सूत्र इत्यादि। हालाँकि वे हरियाणा की कुल जनसँख्या के चौथाई ही हैं पर फिर भी वे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि योग्य भूमि के कम से कम तीन-चौथाई के मालिक हैं।

इस क्षेत्र में जाति व्यवस्था बेहद मजबूत है पर भारत के इस उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में ब्राह्मणवाद की विचारधारा कभी भी बहुत मजबूत नहीं रही। यहाँ पर 'खुदकाशत' का मूल्य बेहद असरकारी रहा है। बल्कि इस मूल्य के आधार पर हम इस क्षेत्र के सामाजिक स्तरीकरण की संरचना को थोड़ा-बहुत समझ भी सकते हैं।

यहाँ पारम्परिक अर्थ में कोई ज़मींदार नहीं रहा है और ना ही अनुपस्थित ज़मींदार की श्रेणी जो भारत के अन्य क्षेत्रों में लागू होती रही है यहाँ कारगर रही है। जो भी व्यक्ति अपनी ज़मीन जोतता रहा हो और किसी

अन्य की ज़मीन पर खेतिहर मजदूर के तौर पर काम ना करता रहा हो वो ज़मींदार कहलाने के लायक रहा है बशर्ते वो सही जाति के अंतर्गत आता हो। यहाँ तक की ग्रामीण हरियाणा में ब्राह्मण भी अपने आप को खुदकाशत के रूप में देखते हैं और इसलिए प्रभुत्वशाली जाटों जैसे ही लगते हैं।

सन 60 और 70 के दशक में इस क्षेत्र में हरित क्रांति की सफलता जाटों के लिए ढेर सारी सम्पन्नता लेकर आई और उनके प्रभुत्व को और भी पुख्ता किया। हालाँकि हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए की अन्य समुदायों की तरह जाटों में भी कई तरह की श्रेणियाँ हैं, जहाँ कुछ संपन्न किसानों के पास बड़े-बड़े खेत हैं वहीं ज्यादातर जाट मझोले या छोटे किसान ही हैं।

व्यावसायिक खेती में बढ़-चढ़ के भागीदारी करने के कारण जाट शहरी जीवन के काफी नज़दीक आये। ना केवल वे खेती सम्बंधित ज़रूरतों के लिए आसपास के शहरों तक आने-जाने लगे बल्कि वे अपने बच्चों को शहरी कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए भी भेजने लगे। संपन्न किसान तो अपनी बेटियों तक को दूर शहरों और कस्बों में स्थित विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए भेजने लगे।

एक अलग तरह का खेती संकट

कर्ज़ के अपमान से बचने और सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में आती निरंतर अवनति से छुटकारा पाने के लिए किसानों की आत्महत्याएं भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पिछले दिनों में आम होती गयी हैं। पर इस कृषि संकट की विभीषका और अनुभव क्षेत्रों और समुदायों के हिसाब से अलग-अलग रहे हैं। इसे समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है की भारत का ग्रामीण परिवृश्य केवल जाति के आधार पर ही नहीं भूमि स्वामित्व के आधार पर भी बंटा हुआ है।

उदाहरण के लिए दलितों के पास और अन्य पिछड़ा वर्ग समूह में निचली श्रेणी पर आने वाली जातियों के पास खेती लायक ज़मीन का स्वामित्व ना के बराबर है। हरियाणा के दो गांवों में 2009 में किया गया मेरा अध्ययन भी यही दिखाता है की इन दो श्रेणियों के लगभग 90 प्रतिशत घर पूरी तरह से भूमिहीन हैं। पर आंतरिक रूप से श्रेणियों में बँटे हुए होने के बाद भी यह कहा जा सकता है की जाटों के बीच भूमिहीन ना के बराबर हैं। इसके अलावा प्रभुत्वशाली वर्ग होने की वजह से अन्य स्रोतों और संसाधनों तक इनकी गहरी पहुँच है जबकि दलित और अन्य भूमिहीन ऐसे किसी तंत्र से कोसों दूर हैं।

ऐसा नहीं है की इस कृषि संकट से जाट अछूते रहे हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी ज़मीनें सिकुड़ती जा रही हैं। नए विकल्पों के आभाव में वे अपने पेशे में विविधता लाने के लिए और खेती छोड़ने के लिए विवश हैं। इसीलिए वे अपनी आय को अपने बच्चों को शिक्षित करने में लगा रहे हैं ताकि वे कृषि से बाहर निकलकर किसी और क्षेत्र में सम्मानपूर्वक नौकरी कर सकें।

ऐसा भी नहीं की यह संकट केवल आर्थिक है यह उतना ही सांस्कृतिक भी है। भारत के उत्तर-पश्चिम में बसे समुदाय अपनी ज़मीन जोतने को लेकर जैसा गौरव धारण करते आये हैं वह पिछले दो दशकों में जाता रहा है। उदारीकरण के बाद के भारत में जो सबसे लुभाने वाली नौकरियाँ हैं वे शहरी इलाकों में हैं और उनमें भी कॉर्पोरेट क्षेत्रों में रही हैं। हालाँकि ओबीसी कोटे के तहत शामिल किये जाने से जाटों को सीधे-सीधे कॉर्पोरेट क्षेत्र में एंट्री नहीं मिलने वाली है पर वे ऐसा मानते हैं की आरक्षण की बदौलत वे अपने बच्चों को आईआईटी और आईआईएम जैसे संस्थानों में पढ़ा सकते हैं जो इस क्षेत्र में उनके प्रवेश को सुगम बना सकता है। ऐसा उन्हें इसलिए भी लगता है क्यूंकी उनसे निचली सामाजिक हैसियत वाली अन्य जातियाँ ओबीसी सर्टिफिकेट के चलते ऐसा संस्थानों में आसानी से दाखिला पा लेती हैं।

हालाँकि हरियाणा में जाट और गुजरात में पटेल अपने 'शूद्र' दर्जे का हवाला देते हुए अन्य पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में शामिल किये जाने और उसके तहत आरक्षण मिलने की मांग करते हैं पर यह ध्यान देने योग्य है की उनकी राजनीति ओबीसी श्रेणी के अंतर्गत आने वाली ग़रीब, ज़रूरतमंद, और वाकई पिछड़ी जातियों के खिलाफ खड़ी हुई है। जहाँ वे आरक्षण के लिए लड़ रहे हैं वहीं उनकी लड़ाई को आरक्षण की मूल भावना के विरुद्ध भी देखा जा सकता है। उनका संघर्ष इसलिए नहीं है की उन्हें भी सामान रूप से मौकें मिलें और चंद वर्गों का प्रभुत्व खत्म हो बल्कि इसलिए है की वे अपने खोये हुए विशेषाधिकार और प्रभुत्व को वापस पाना चाहते हैं।

अतः उनकी दबाव डालने वाली राजनीति समाज में अलगाव की स्थिति पैदा करेगी। ओबीसी श्रेणी के तहत आने पर उनको मिलने वाले फायदे उन समुदायों की कीमत पर होंगे जिन्हें अपनी सामाजिक स्थिति के चलते वाकई इस श्रेणी में होना चाहिए। जो वाकई आरक्षण के हकदार हैं उन्हें इस श्रेणी के तहत सीमित सीटों पर जाटों से प्रतिस्पर्धा करनी होगी और बड़ी आशंका है की वे असफल ही रहेंगे।

भारत की दस सबसे ज्यादा कर्जदार कंपनियां : दंग रह जाएंगे आप इनके नाम जानकर

■ नीरज ठाकुर

एक वित्तीय सलाह से अपनी बात शुरू करता हूँ। अगर आप बैंक के कर्जदार हैं तो ये सुनिश्चित कर लीजिये कि ये कर्ज भारी-भरकम हो। क्योंकि तब आप समय पर कर्जा चुकाने की चिंता से पूरी तरह मुक्त हो जायेंगे। बल्कि कुछ मामलों में तो समय की बात दूर कर्जा चुकाना ही गैरजरूरी हो जायेगा!!

मैं कोई मज़ाक नहीं कर रहा। भारत के कई शीर्षस्थ व्यापारिक घराने बैंकों के भारी कर्जदार हैं और भुगतान करने में चूकते रहे हैं। पर भुगतान करना तो दूर ये कम्पनियाँ लगातार बचने के नए-नए रास्ते निकालती रहती हैं। या तो उनका कर्ज इस तरह से 'पुनर्परिभाषित' कर दिया जाता है कि वे ब्याज के भुगतान से बच जाते हैं या उनके भुगतान अंतरालों और प्रक्रिया को बेहद उदारतापूर्वक इतना खींच दिया जाता है कि वे आसानी से साँस ले सकें और बच कर निकल सकें।

दिसम्बर 2015 में उच्च न्यायालय ने यह आदेश जारी किया था की आरटीआई के अंतर्गत और पारदर्शिता के लिए बैंक दोषी कम्पनियों के नाम सार्वजनिक किया करें। यह ज्ञात हो की इससे पहले तक बैंक आसानी से इस जानकारी को सार्वजनिक करने से बचते आये थे।

अगर मोटे तौर पर देखें तो सकल निष्क्रिय संपत्ति- यानि वह कर्ज जो उधारकों ने नहीं चुकाया है और जो महज सरकारी बैंकों को ही देय है- वह तक 3.04 लाख करोड़ तक बैठती है। आप की जानकारी के लिए बता दूँ कि यह भारत के संपूर्ण शिक्षा बजट का चार गुना है! ये बताने की ज़रूरत नहीं की इस कर्ज का अधिकांश हिस्सा कभी भी इन कम्पनियों द्वारा नहीं चुकाया जायेगा।

ज़रा इस राशि की तुलना 70,000 करोड़ रुपये के किसान कर्ज की माफ़ी से कीजिए। जब सन 2009 में सरकार ने यह कर्जा माफ़ किया था तो मुक्त बाज़ार व्यवस्था के समर्थक छाती पीट-पीट कर सियापा करने लगे थे। उनके अनुसार गरीबों को मिली यह छूट पूरी तरह से नाजायज़ थी!!

भारतीय रिज़र्व बैंक ने तो अब तक उन निजी कर्जदारों की- जो भुगतान ना करने के दोषी हैं -पहचान सार्वजनिक नहीं की है।

इसलिए मैं एक अन्य स्रोत, क्रेडिट स्यूस द्वारा अक्टूबर 2015 की अपनी रिपोर्ट में दी गई भारत की दस सबसे ज्यादा कर्जदार कम्पनियों की सूची का ब्यौरा दे रहा हूँ। यह बात ध्यान में रखें कि उनकी बैलेंस शीट में जो कर्जा दर्ज है वह मार्च 2015 तक का है।

1. रिलायंस समूह

अनिल अम्बानी की अगुवाई में रिलायंस समूह ऊर्जा, बीमा, संपत्ति प्रबंधन, मनोरंजन, संचार तकनीकी से जुड़े आधार तंत्र, इत्यादि क्षेत्रों में व्यापार करता है। मार्च 2015 तक कम्पनी के बही-खाते के अनुसार यह समूह 1.25 लाख करोड़ के कर्ज में डूबा हुआ था। यह राशि उतनी ही है जितने के विशेष पैकेज की घोषणा प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने बिहार के लिए अगस्त में राज्य के चुनावों से पहले की थी।

2. वेदांता समूह

अनिल अग्रवाल की यह कंपनी भारत की दूसरी सबसे कर्जदार कंपनी है। क्रेडिट स्यूस के अनुसार यह कम्पनी, जो धातुओं के कारोबार और खनन के क्षेत्र में सक्रिय है, 1.03 लाख करोड़ रुपये के कर्ज में डूबी हुई है। भारत सरकार ने मार्च 2015 में संचार स्पेक्ट्रम की सबसे बड़ी नीलामी में जो रकम खड़ी की थी यह राशि उसके ठीक बराबर है।

3. एस्सार समूह

रुइया भाईओं (शशि रुइया और रवि रुइया) की देखरेख में चलने वाली इस कम्पनी पर, जिसका कार्य-व्यापार पच्चीस देशों में फैला हुआ है, 1.01 लाख करोड़ रुपये का कर्जा है। केंद्र सरकार स्मार्ट शहरों के निर्माण पर सन 2020 तक इतना ही व्यय करने की सोच रही है!

4. अडानी समूह

अडानी समूह के चेयरमैन गौतम अडानी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से अपनी नज़दीकी के कारण सुखियों में रहते हैं। इनका व्यापारिक घराना बैंकिंग तंत्र का 96,031 करोड़ रूपए का कर्जदार है। यह ध्यान दें की यह राशि मुंबई और अहमदाबाद के बीच सरकार द्वारा प्रस्तावित बुलेट ट्रेन तंत्र के बजट से ज़रा ही कम है। इस साल की शुरुआत में ये खबरें आई की भारतीय स्टेट बैंक ने इस कम्पनी के द्वारा ऑस्ट्रेलिया में कोयला खदान खोलने के लिए मांगे गए कर्ज (एक खरब डॉलर यानि 6,600 करोड़ रुपये) को मंजूर कर लिया था पर मीडिया में हो-हल्ला मचने और इस बात पर विस्तृत बहस होने कि इस सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक पर पहले से ही बहुत दबाव है यह मंजूरी वापस ले ली गयी।

5. जेपी समूह

मनोज गौर द्वारा संचालित जेपी समूह पर 75,613 करोड़

रुपयों का कर्ज है। ज्ञात हो की सन 2007 से सन 2012 तक मायावती का उत्तर प्रदेश में शासन काल इस समूह का सबसे सुनहरा दौर था। यह कर्ज देश में स्कूल जाने वाले 1200 करोड़ बच्चों के खाने के लिए चलाई गई मिड डे मील योजना के लिए सन 2015 में आवंटित की गयी राशि के बराबर है।

6. जेएसडब्लू समूह

सज्जन जिंदल जेएसडब्लू समूह के चेयरमैन हैं और हाल फिलहाल में वे इसलिए ख़बरों में छाये रहे क्योंकि ये माना जा रहा था कि पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ और नरेंद्र मोदी की मुलाकात की रूपरेखा तय करने में उन्हीं का हाथ था। ज़ाहिर सी बात है कि बड़े संपर्क-सूत्रों के चलते ही आप बड़े उधार पाने की उम्मीद रख सकते हैं। क्रेडिट स्कू के अनुसार इस समूह पर 58,171 रुपये का कर्ज है। यह राशि उस खर्च के बराबर है जिसमें भारत फ्रांस से 26 राफेल लड़ाकू विमान खरीदने की उम्मीद रखता है।

7. जीएमआर समूह

इस समूह का नामकरण अपने संस्थापक जीएम राव के नाम पर हुआ है और यह समूह विशेष रूप से दिल्ली के अंतर्राष्ट्रीय विमान प्रखंड (टी 3) के निर्माण के लिए जाना जाता है। इस समूह के बही-खाते में 47,976 रुपये का कर्ज दर्ज है। अगर अनुमान लगाया

जाए तो इतने में कोयला आधारित 4000 मेगावॉट के लगभग बिजली पैदा करने वाले कई ऊर्जा संयंत्र खोले जा सकते हैं जिनसे दुर्भट गमी में भी हरियाणा जैसे राज्य की बिजली आपूर्ति पूरी की जा सकती है।

8. लैंको समूह

एल मधुसूदन राव की चेयरमैनी में चलने वाली यह कम्पनी सौर और थर्मल ऊर्जा संयंत्र चलाती है। इसपर 47,102 करोड़ रुपयों का कर्जा है।

9. वीडियोकॉन समूह

एक समय टीवी बनाने के लिए चर्चित वेणुगोपाल धूत की इस कम्पनी का बैंकों पर 45, 405 करोड़ रुपयों का बकाया है। इतने रुपयों में भारत के लगभग 93 मंगल ग्रह अभियान संभव बनाये जा सकते हैं।

10. जीवीके समूह

जीवीके रेड्डी द्वारा स्थापित इस समूह की रूचि ऊर्जा, आधारतंत्र, और आतिथ्य-सत्कार जैसे क्षेत्रों में है। इस कम्पनी पर 33,933 करोड़ रूपए का कर्जा है। सन 2015 में भारत सरकार द्वारा महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना के लिए आवंटित 34,000 करोड़ रुपये से यह राशि ज़रा ही कम है।

अमरनाथ यात्रा का सच

पृष्ठ 23 का शेष

करना होगा।

देश में कभी भी किसी भी धार्मिक स्थल को वन विभाग की भूमि नहीं दी गई है और न ही कहीं मंदिरों के ट्रस्टों या दरगाहों के प्रशासनिक बोर्ड का राज मंदिर या दरगाहों के क्षेत्र के बाहर चलने दिया गया है। अमरनाथ श्राईन बोर्ड तो मानों अमरनाथ यात्रा के पूरे रास्ते को अपनी जागीर समझने लगा।

प्रो. राम पुनियानी के इस महत्वपूर्ण लेख की अंतिम दो पंक्तियां अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'कश्मीरियत अगर वापस आएगी तो अपने साथ शांति, एकता, सामाजिक व आर्थिक प्रगति भी लाएगी, इसलिए कश्मीरियत को वापस लाने के लिए जो भी ज़रूरी हो किया जाना चाहिए।'

अमरनाथ यात्रा के तअल्लुक से मैं जिस राजनीति की चर्चा कर रहा था, उसे बहुत स्पष्ट अंदाज़ में ऐतिहासिक संदर्भों के साथ आदरणीय राम पुनियानी ने प्रस्तुत किया है। लगभग 150 वर्षों तक जिस यात्रा की व्यवस्था उस मुस्लिम चरवाहे का परिवार देखता रहा, जिसने कि उसकी खोज की

थी, यह अपने आप में साम्प्रदायिक सद्भावना और कश्मीरी मुसलमानों की एकता और भाईचारे पर आधारित सोच को सामने रखता है, दूसरी विशेष बात यह है कि 1989 तक जहां अमरनाथ यात्रियों की संख्या केवल 12 हज़ार तक थी वह अब 4 लाख से अधिक हो चुकी है। यानी 139 वर्ष तक तीर्थ यात्रियों की संख्या 12 हज़ार तक सीमित रही लेकिन पिछले 20 वर्षों में 34 गुणा बढ़ कर 4 लाख से अधिक हो गई और इसकी अवधि जो दो सप्ताह तक सीमित थी, उसे भी 5 गुणा बढ़ा कर 10 सप्ताह कर दिया गया। इसे मात्र 'आस्था' समझा जाए या राजनीतिक रणनीति, चूंकि ऐसी ही राजनीतिक रणनीति का परिणाम हम 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद की शहादत के रूप में देख चुके हैं, इसलिए ऐसी किसी भी राजनीतिक सोच के गंभीर परिणाम को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। आदरणीय राम पुनियानी के इस लेख में इज़राइली गृहमंत्र शेमोन पैरेस के द्वारा उस समय भारत के गृहमंत्री लालकृष्ण आडवानी को दी गई सलाह भी विचारणीय है जिस पर मुसलमानों का चिंतित होना स्वभाविक था और आवश्यक है।

दुर्गा और महिषासुर के टकराव का सही अर्थ

■ मृगाल पाण्डे

संसद में एक बेहद मूर्खतापूर्ण बहस छिड़ी हुई है। इस बहस में एक तरफ देवी दुर्गा के भक्त हैं - जोकि मुख्यधारा हिन्दू धर्म के द्वारा हर साल शारदीय नवरात्र में महिष राक्षस महिषासुर का संहार करने के लिए पूजा जाती हैं - और दूसरी तरफ वे जो महिषासुर को नायक के तौर पर देखते हैं। जो सवाल उठाया जा रहा है वह यह की इनमें किस पक्ष का सही मायने में अपमान हुआ है अतः कौन साधिकार यह अपमान महसूस कर सकता है। या तो जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के छात्र-छात्राएं, जो महिषासुर के संहार को जाति व्यवस्था को मानने वाले हिन्दुओं द्वारा आदिवासियों के बर्बर उत्पीड़न का प्रतीक मानते हैं, सही हैं अथवा मानव संसाधन मंत्री स्मृति ईरानी, जिन्होंने संसद में जेएनयू के छात्रों द्वारा जारी किये गए दो साल पहले के एक पर्चे में जिसमें महिषासुर को शहीद बताया गया था पढ़ कर सनसनी मचा दी थी, वे और उनकी अगुवाई में अन्य नेतागण सही हैं।

यहाँ यह बात रेखांकित करने वाली है की दोनों ही पक्ष दुर्गा को विद्रोह के शक्तिशाली प्रतीक के रूप में स्वीकारते हैं। दुर्गा किसी पुरुष देवता से दबने वाली नहीं हैं, बल्कि वे उस कला में सबसे पारंगत नज़र आती है जो सामान्यतः पुरुषों की विशेषज्ञता मानी जाती है, यानि युद्ध कला में। एक बात और जो ध्यान देने वाली है वह यह की मिथकों और कथाओं में वर्णित अपने वीरतापूर्ण कारनामों के बावजूद दुर्गा कभी अपने अपरिमित कौशल को पुरुष देवगणों की सेवा में नहीं लगातीं। बल्कि ये देवगण ही दुर्गा को कुछ न कुछ देकर अपने आप को कृत कृत्य समझते हैं। वे उन्हें अपने शस्त्रास्त्र देते हैं। विष्णु चक्र, शिव त्रिशूल और वायु धनुष बाण का सहयोग दुर्गा को देते हैं। वे अपनी आतंरिक शक्ति एवं अग्नि दुर्गा को निर्मित करने में लगाते हैं और इस प्रक्रिया में स्वयं रिक्त हो जाते हैं।

दुर्गा - एक प्राक वैदिक देवी

बहस का मुख्य बिंदु दुर्गा का व्यक्तित्व नहीं महिषासुर का भीषण और रक्तंजित अंत है। जो महिषासुर की मृत्यु को शहादत के फ्रेम में देखते हैं वे उसे एक उग्र पुरुष के रूप में नहीं बल्कि एक आर्य देवी के बरक्स पिछड़ी

जातियों के नायक के रूप में देखते हैं। ये बहस चाहे कितनी भी सस्ती लोकप्रियता हासिल कर ले पर यह साफ़ है की ऐसी बहसें देवी महात्म्य और मिथकीयता की बेहद संकीर्ण समझ प्रदर्शित करती हैं। दुर्गा मूर्ति की तरह यह मिथक भी दार्शनिक मिट्टी की कई परतों से बना होता है। इसके स्रोत निराले हैं, बैल के सींग, हिरन के खुर, खेतों की चिकनी मिट्टी, और भारतवर्ष के वे जंगल जहाँ ढेरों जनजातियां और संप्रदाय सदियों से रहते आये हैं।

शायद बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा की दुर्गा का ऐतिहासिक आधार भारत के देशज और प्राक-वैदिक काल में गहरे सन्निहित है। वैदिक परम्परा में तो दुर्गा सरीखी कोई योद्धा देवी है ही नहीं। दुर्गा पर जो प्राचीन पौराणिक संदर्भ मिलते हैं जैसे कि महाभारत के विराट पर्व में (महाकाव्य का चौथा अध्याय) या उसके बाद हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण में वे दुर्गा को विंध्य पहाड़ों में रहने वाले साबर आदिवासियों से जोड़ कर देखते हैं। यह वो क्षेत्र है जो बहुत दुर्गम और बीहड़ माना जाता रहा है यानि जहाँ जाना बेहद मुश्किल हो। अतः इसके सन्दर्भ में कहा जाता रहा है दुर्गेण गम्यते और इसीलिए देवी का नाम पड़ा दुर्गा। यह पहाड़ी क्षेत्र जहाँ घने जंगल हैं और जहाँ जंगली जनजातियां और जानवर रहते आये हैं वह हमेशा से मुख्यधारा सभ्यता से कटा हुआ रहा है। इसी जगह पर विंध्यवासिनी दुर्गा की अवधारणा पैदा हुई थी। कौशिकी, यानि अपने आवरण को उतार देने वाली, यह कुंवारी देवी धीमे-धीमे भारतीय जनमानस और जाती व्यवस्था के तहत पूजा जाने वाली अन्य देवियों के मूल तत्त्व और मातृत्व स्वरूप की तरह प्रतिष्ठापित होती गयी।

स्मृति ईरानी चाहे दुर्गा का कितना भी नाम लें यह स्पष्ट है की अद्भुत शक्ति संपन्न और योद्धा कौशिकी किसानों और व्यापारियों की और मुख्यधारा हिन्दू धर्म की देवी दुर्गा मध्यकाल में ही जाकर बनी। दुर्गा बनते हुए भी यह अद्भुत देवी अपने अनार्य स्वभाव को और अपनी आदिवासी जमीन को अपने साथ लेती आई। वो अपने प्रेमी देवताओं और असुरों के उसे रिझाने के प्रयासों को पूरी निष्ठुरता के साथ धता बताती रही। साथ ही वो मदिरा, मांस, और बलि को चढ़ावे के रूप में सहर्ष स्वीकार भी करती रही।

इस बीच पुराणों के द्वारा दुर्गा को लेकर कई मिथक गढ़े गए जो धीमे-धीमे प्रचलित भी होते गए। विष्णु पुराण में, मुख्यधारा हिन्दू धर्म के भगवान विष्णु उससे आग्रह करते हैं की वह बालक कृष्ण पर नज़रें जमाये असुर नृप का वध करे। एक दूसरी कृति दुर्गा महात्म्य में वो ब्रह्मा की मदद करती नज़र आती है। ब्रह्मा, विष्णु को परेशान कर रहे दो असुरों को मारने का प्रयास कर रहे हैं। दुर्गा उन दोनों असुरों का वध कर देती है जब विष्णु सो रहे होते हैं। स्कन्द पुराण में तो दुर्गा को मुख्यधारा की देवी पार्वती ही बताया गया है। ये कहा जाता है की जब महिषों का असुर जिसका नाम दुर्गा था दुनिया पर काले साये की तरह मंडराने लगा तब शिव ने अपनी पत्नी पार्वती (जो लक्ष्मी, गणेश, कार्तिकेय और सरस्वती की माँ थी) से आग्रह किया की वो अपना रौद्र रूप धारण करे और असुर का संहार करे। पत्नी और माँ के अपने खोल को (याद करें आदिवासी देवी कौशिकी को) तज कर और योद्धा बनकर, मिथक के अनुसार पार्वती ने दुर्गा नाम के असुर को मार दिया। भारी ब्रह्माण्डीय संकट से झूझते हुए और असुर का वध करते हुए देवी का नाम भी दुर्गा पड़ गया साथ ही देवी ने अपने रौद्र और बहुबाहु रूप को फिर से पा लिया।

एक स्त्रीवादी देवी

दुर्गा की वे छवियाँ जहाँ वे शस्त्रों से सुसज्जित होकर एक आधे भैंसे और आधे पुरुष महिषासुर का वध कर रही हैं चौथी शताब्दी के आस-पास प्रचलित हुईं। उनको लेकर मनाया जाना वाला त्यौहार कटाई के वक्त होता था और आज की दुर्गा पूजा का पूर्ववर्ती रूप था। इस त्यौहार में उनकी उर्वरता की शक्ति का जो उल्लास मनाया जाता था वो कोख के रूपक से जोड़कर नहीं हरियाली और वानस्पतिक सम्पदा से जोड़कर देखा जाता था। वे जैविक तौर पर जिसे मातृत्व कहा जाता है उससे बंधी हुई नहीं थीं। बल्कि वे एक सशस्त्र योद्धा की तरह मनुष्यों के रक्षक के तौर पर देखी जाती थीं। इसलिए यह तर्कसंगत ही था की लड़ाकिन दुर्गा को ऊर्जा और जीवनशक्ति से भरपूर रखने के लिए एवं उनके शरीर और आत्मा की तृप्ति के लिए रक्त और मदिरा का चढ़ावा चढ़ाया जाए। इसलिए कई अर्थों में पुराणों की दुर्गा शुरुआत से ही माता रानी की अश्रुपूरित नयनों वाली और ममतामयी मातृत्व वाली छवि का विलोम रही है। कहना ना होगा की आज के भक्त इसी माता रानी मॉडल की जय जयकार करते हैं और दुर्गा के उस किंचित असुविधा पैदा करने वाले रूप को भुला देते हैं।

तो फिर महिषासुर और दुर्गा के बीच के टकराव को

कैसे देखा जाए? मेरी समझ में यह टकराव एक स्वतंत्र स्त्री (कौशिकी) और एक शक्तिशाली पुरुष के बीच का टकराव है जहाँ दोनों ही अपने अनुचित विशेषाधिकारों और व्यक्तिगत अहं से कोई समझौता करना नहीं चाहते। दोनों का जन्म, हमें यह नहीं भूलना चाहिए की एक ही स्रोत से हुआ है। अतः उनका टकराव अन्य मिथकीय टकरावों जैसे सरस्वती बनाम ब्रह्मा या द्रौपदी बनाम भीष्म से भिन्न नहीं है। स्त्री से जुड़े मिथकों का आद्य रूप यही है जहाँ एक शक्तिशाली पुरुष एक स्त्री के बढ़ते पराक्रम को ना समझ पाने की भूल करता है। कभी सचेत रूप से तो कभी यूँ ही वो अपने शब्दों या भंगिमाओं से उसका अपमान करता है और उसकी प्रतिक्रिया और खुद को मिलने वाले दंड को देखकर दंग रह जाता है।

महिषासुर, एक आद्यरूप पुरुष है जो तपस्या और आत्मबल से असीम शक्तियों का अधिकारी बन जाता है पर अंततः अपने अहं के कारण ही उसका नाश होता है। कोई ज़रूरी नहीं की उसे इसलिए सज़ा मिले की उसने स्त्री को शारीरिक रूप से नुकसान पहुँचाया है। वह तो इसलिए भी दंड का भागीदार बनता है क्योंकि वह यह समझता है की सुन्दर और कमनीय स्त्रियाँ लड़ने के और युद्ध करने के काबिल नहीं होतीं बस प्रेम करना ही उनके बस की बात होती है (देवी भागवत पुराण, 5.12. 14-30)। अगर महिषासुर, आज के पुरुषों की तरह, यह समझता रहा हो की बिना पुरुषों की छाया के औरतों की आक्रामकता महज रिझाने की एक चाल होती है जिसका इस्तेमाल वे इसलिए करती हैं क्योंकि वे असहाय होती हैं और उन्हें मर्दों की ज़रूरत होती है, तो आप दुर्गा जैसी स्वाभिमानी और शक्तिशाली महिला से कैसी प्रतिक्रिया की उम्मीद करेंगे?

आज दुर्गा हर महिला का स्वरूप है जैसे महिषासुर हर पुरुष का। बल्कि दुर्गा की असामान्य प्रकृति और मातृत्व और पत्नीत्व की भूमिका के सहज स्वीकार में उसकी अरुचि उसे स्त्रीवादी स्वातंत्र्य का एक अद्भुत और खरा प्रतीक बना देती है। एक आदिवासी देवी के रूप में वो असुरों का संहार करते हुए अपने इर्द गिर्द फैले हुए विष को ही मार रही होती है। मुख्यधारा में शामिल किये जाने के बाद भी वो उन देवताओं से आगे निकल जाती है जिन्होंने उसे अपने अस्त्र दिए हैं और जो युद्ध काल में या तो सोते पाये गए या भाग खड़े हुए। दुर्गा का चरित्र, राज्य के स्त्रीवादी सिद्धांत की प्रारंभिक संभावनाओं की ओर इशारा करता है। वह राज्य संतलुन और समस्वरता का निर्माण करेगा और मनुष्य के अंतर्तम में बसी मूर्खता और पूर्वाग्रहों को नष्ट करने के लिए प्रयासरत रहेगा।

सिमटती नदियां, संकट में मानव सभ्यता

■ पंकज चतुर्वेदी

बहुत पुरानी बात है, हमारे देश में एक नदी थी सिंधु। इस नदी की घाटी में खुदाई हुई तो मोहनजोदड़ो नाम का शहर मिला, ऐसा शहर जो बताता था कि हमारे पूर्वजों के पूर्वज बेहद सभ्य व सुसंस्कृत थे और नदियों से उनका शरीर-श्वास का रिश्ता था। नदियों के किनारे समाज विकसित हुआ, बस्ती, खेती, मिट्टी व अनाज का प्रयोग, अग्नि का इस्तेमाल के अन्वेषण हुए।

मन्दिर व तीर्थ नदी के किनारे बसे, ज्ञान व आध्यात्म का पाठ इन्हीं नदियों की लहरों के साथ दुनिया भर में फैला। कह सकते हैं कि भारत की सांस्कृतिक व भावात्मक एकता का सम्बन्ध इन नदियों से ही उभरता है। इंसान मशीनों की खोज करता रहा, अपने सुख-सुविधाओं व कम समय में ज्यादा काम की जुगत तलाशता रहा और इसी आपाधापी में सरस्वती जैसी नदी गुम हो गई। गंगा व यमुना पर अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया।

बीते चार दशकों के दौरान समाज व सरकार ने कई परिभाषाएँ, मापदण्ड, योजनाएँ गढ़ीं कि नदियों को बचाया जाये, लेकिन विडम्बना है कि उतनी ही तेजी से पावनता और पानी नदियों से लुप्त होता रहा।

हमारे देश में 13 बड़े, 45 मध्यम और 55 लघु जलग्रहण क्षेत्र हैं। जलग्रहण क्षेत्र उस सम्पूर्ण इलाके को कहा जाता है, जहाँ से पानी बहकर नदियों में आता है। इसमें हिमखण्ड, सहायक नदियाँ, नाले आदि शामिल होते हैं।

जिन नदियों का जलग्रहण क्षेत्र 20 हजार वर्ग किलोमीटर से बड़ा होता है, उन्हें बड़ा-नदी जलग्रहण क्षेत्र कहते हैं। 20 हजार से दो हजार वर्ग किलोमीटर वाले को मध्यम, दो हजार से कम वाले को लघु जल ग्रहण क्षेत्र कहा जाता है। इस मापदण्ड के अनुसार गंगा, सिंधु, गोदावरी, कृष्णा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, तापी, कावेरी, पेन्नार, माही, ब्राह्मणी, महानदी और साबरमति बड़े जल ग्रहण क्षेत्र वाली नदियाँ हैं। इनमें से तीन नदियाँ - गंगा, सिंधु और ब्रह्मपुत्र हिमालय के हिमखण्डों के पिघलने से अवतरित होती हैं। इन सदानेरा नदियों को 'हिमालयी नदी' कहा जाता है। शेष दस को पठारी नदी कहते हैं, जो मूलतः वर्षा पर निर्भर होती हैं।

यह आँकड़ा वैसे बड़ा लुभावना लगता है कि देश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 32.80 लाख वर्ग किलोमीटर है, जबकि सभी नदियों का सम्मिलित जलग्रहण क्षेत्र 30.50 लाख वर्ग किलोमीटर है। भारतीय नदियों के मार्ग से हर साल 1645 घन किलोलीटर पानी बहता है जो सारी दुनिया की कुल नदियों का 4.445 प्रतिशत है। आँकड़ों के आधार पर हम पानी के मामले में पूरी दुनिया में सबसे ज्यादा समृद्ध हैं, लेकिन चिन्ता का विषय यह है कि पूरे पानी का कोई 85 फीसदी बारिश के तीन महीनों में समुद्र की ओर बह जाता है और नदियाँ सूखी रह जाती हैं।

नदियों के सामने खड़े हो रहे संकट ने मानवता के लिये भी चेतावनी का बिगुल बजा दिया है, जाहिर है कि बगैर जल के जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है। हमारी नदियों के सामने मूलरूप से तीन तरह के संकट हैं - पानी की कमी, मिट्टी का आधिक्य और प्रदूषण।

धरती के तापमान में हो रही बढ़ोत्तरी के चलते मौसम में बदलाव हो रहा है और इसी का परिणाम है कि या तो बारिश अनियमित हो रही है या फिर बेहद कम। मानसून के तीन महीनों में बमुश्किल चालीस दिन पानी बरसना या फिर एक सप्ताह में ही अन्धाधुन्ध बारिश हो जाना या फिर बेहद कम बरसना, ये सभी परिस्थितियाँ नदियों के लिये अस्तित्व का संकट पैदा कर रही हैं।

बड़ी नदियों में ब्रह्मपुत्र, गंगा, महानदी और ब्राह्मणी के रास्तों में पानी खूब बरसता है और इनमें न्यूनतम बहाव 4.7 लाख घनमीटर प्रति वर्ग किलोमीटर होता है। वहीं कृष्णा, सिंधु, तापी, नर्मदा और गोदावरी का पथ कम वर्षा वाला है सो इसमें जल बहाव 2.6 लाख घनमीटर प्रति वर्ग किलोमीटर ही रहता है। कावेरी, पेन्नार, माही और साबरमति में तो बहाव 0.6 लाख घनमीटर ही रह जाता है। सिंचाई व अन्य कार्यों के लिये नदियों के अधिक दोहन, बाँध आदि के कारण नदियों के प्राकृतिक स्वरूपों के साथ भी छेड़छाड़ हुई व इसके चलते नदियों में पानी कम हो रहा है।

नदियाँ अपने साथ अपने रास्ते की मिट्टी, चट्टानों के टुकड़े व बहुत सा खनिज बहाकर लाती हैं। पहाड़ी व नदियों के मार्ग पर अन्धाधुन्ध जंगल कटाई, खनन, पहाड़ों

को काटने, विस्फोटकों के इस्तेमाल आदि के चलते थोड़ी सी बारिश में ही बहुत सा मलबा बहकर नदियों में गिर जाता है।

परिणामस्वरूप नदियाँ उथली हो रही हैं, उनके रास्ते बदल रहे हैं और थोड़ा सा पानी आने पर ही वे बाढ़ का रूप ले लेती हैं। यह भी खतरनाक है कि सरकार व समाज इन्तजार करता है कि नदी सूखे व हम उसकी छोड़ी हुई जमीन पर कब्जा कर लें। इससे नदियों के पाट संकरे हो रहे हैं उसके करीब बसावट बढ़ने से प्रदूषण की मात्रा बढ़ रही है।

नदियों के सामने खड़े हो रहे संकट ने मानवता के लिये भी चेतावनी का बिगुल बजा दिया है, जाहिर है कि बगैर जल के जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है। हमारी नदियों के सामने मूलरूप से तीन तरह के संकट हैं - पानी की कमी, मिट्टी का आधिक्य और प्रदूषण। धरती के तापमान में हो रही बढ़ोत्तरी के चलते मौसम में बदलाव हो रहा है और इसी का परिणाम है कि या तो बारिश अनियमित हो रही है या फिर बेहद कम। मानसून के तीन महीनों में बमुश्किल चालीस दिन पानी बरसना या फिर एक सप्ताह में ही अन्धाधुन्ध बारिश हो जाना या फिर बेहद कम बरसना, ये सभी परिस्थितियाँ नदियों के लिये अस्तित्व का संकट पैदा कर रही हैं।

आधुनिक युग में नदियों को सबसे बड़ा खतरा प्रदूषण से है। कल-कारखानों की निकासी, घरों की गन्दगी, खेतों में मिलाए जा रहे रासायनिक दवा व खादों का हिस्सा, भूमि कटाव, और भी कई ऐसे कारक हैं जो नदी के जल को जहर बना रहे हैं। अनुमान है कि जितने जल का उपयोग किया जाता है, उसके मात्र 20 प्रतिशत की ही खपत होती है, शेष 80 फीसदी सारा कचरा समेटे बाहर आ जाता है। यही अपशिष्ट या माल-जल कहा जाता है, जो नदियों का दुश्मन है। भले ही हम कारखानों को दोषी बताएँ, लेकिन नदियों की गन्दगी का तीन चौथाई हिस्सा घरेलू मल-जल ही है।

आज देश की 70 फीसदी नदियाँ प्रदूषित हैं और मरने के कगार पर हैं। इनमें गुजरात की अमलाखेड़ी, साबरमती और खारी, हरियाणा की मारकंडा, मप्र की खान, उप्र की काली और हिण्डन, आन्ध्र की मुंसी, दिल्ली में यमुना और महाराष्ट्र की भीमा मिलाकर 10 नदियाँ सबसे ज्यादा प्रदूषित हैं।

हालत यह है कि देश की 27 नदियाँ नदी के मानक में भी रखने लायक नहीं बची हैं। वैसे गंगा हो या यमुना, गोमती, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, महानदी, ब्रह्मपुत्र, झेलम, सतलुज, चेनाब, रावी, व्यास, पार्वती,

हरदा, कोसी, गंडगोला, मसैहा, वरुणा, बेतवा, ढोंक, डेकन, डागरा, रमजान, दामोदर, सुवर्णरेखा, सरयू, रामगंगा, गौला, सरसिया, पुनपुन, बूढ़ी गंडक, गंडक, कमला, सोन एवं भगीरथी या फिर इनकी सहायक, कमोबेश सभी प्रदूषित हैं और अपने अस्तित्व के लिये जूझ रही हैं।

दरअसल पिछले 50 बरसों में अनियंत्रित विकास और औद्योगीकरण के कारण प्रकृति के तरल स्नेह को संसाधन के रूप में देखा जाने लगा, श्रद्धा-भावना का लोप हुआ और उपभोग की वृत्ति बढ़ती चली गई। चूँकि नदी से जंगल, पहाड़, किनारे, वन्य जीव, पक्षी और जन-जीवन गहरे तक जुड़ा है, इसलिये जब नदी पर संकट आया, तब उससे जुड़े सभी सजीव-निर्जीव प्रभावित हुए बिना न रहे और उनके अस्तित्व पर भी संकट मँडराने लगा। असल में जैसे-जैसे सभ्यता का विस्तार हुआ, प्रदूषण ने नदियों के अस्तित्व को ही संकट में डाल दिया।

राष्ट्रीय पर्यावरण संस्थान, नागपुर की एक रपट बताती है कि गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी सहित देश की 14 प्रमुख नदियों में देश का 85 प्रतिशत पानी प्रवाहित होता है। ये नदियाँ इतनी बुरी तरह प्रदूषित हो चुकी हैं कि देश की 66 फीसदी बीमारियों का कारण इनका जहरीला जल है। इस कारण से हर साल 600 करोड़ रुपए के बराबर सात करोड़ तीस लाख मानव दिवसों की हानि होती है।

अभी तो देश में नदियों की सफाई नारों के शोर और आँकड़ों के बोझ में दम तोड़ती रही हैं। बड़ी नदियों में जाकर मिलने वाली हिण्डन व केन जैसी नदियों का तो अस्तित्व ही संकट में है तो यमुना कहीं लुप्त हो जाती है व किसी गन्दे नाले के मिलने से जीवित दिखने लगती है। सोन, जोहिला, नर्मदा के उद्गम स्थल अमरकंटक से ही नदियों के दमन की शुरुआत हो जाती है तो कहीं नदियों को जोड़ने व नहर से उन्हें जिन्दा करने के प्रयास हो रहे हैं। नदी में जहर केवल पानी को ही नहीं मार रहा है, उस पर आश्रित जैव संसार पर भी खतरा होता है। नदी में मिलने वाली मछली केवल राजस्व या आय का जरिया मात्र नहीं है, यह जल प्रदूषण दूर करने में भी सहायक होती है।

जल ही जीवन का आधार है, लेकिन भारत की अधिकांश नदियाँ शहरों के करोड़ों लीटर जल-मल व कारखानों से निकले जहर को ढोने वाले नाले का रूप ले चुकी हैं। नदियों में शव बहा देने, नदियों के प्राकृतिक प्रवाह को रोकने या उसकी दिशा बदलने से हमारे देश की असली ताकत, हमारे समृद्ध जल-संसाधन नदियों का अस्तित्व खतरे में आ गया है।

कैसे प्रदूषण मुक्त हों नदियां

■ अरुण तिवारी

नदियों की प्रदूषण-मुक्ति के नाम पर खर्च बढ़ता जा रहा है, पर सरकारी प्रयास अब भी नतीजा लाते नहीं दिख रहे। आखिर क्यों? क्योंकि नदी को धन नहीं, धुन चाहिए; क्योंकि नदी को ढांचे नहीं, ढांचों से मुक्ति चाहिए; क्योंकि नदी को शासन नहीं, अनुशासन चाहिए। नदी को मलीन करने वालों को रोकने के बजाय, निर्मलीकरण के नाम पर कर्ज, खर्च, मशीनें और ढांचे ये प्रदूषण-मुक्ति के काम नहीं हैं। ये प्रदूषण-मुक्ति की आवाजों को पैसे में बदल लेने के काम हैं, जो कि शासन, प्रशासन और बाजार तीनों ने अच्छी तरह सीख लिये हैं। ऐसे में सदाचार कैसे लौटे और नदी निर्मल हो, तो आखिर कैसे?

दरअसल, कोई नदी एक अलग टुकड़ा नहीं होती। नदी सिर्फ पानी भी नहीं होती। नदी एक समग्र और जीवंत प्रणाली होती है। अतः इस इसकी निर्मलता लौटाने का संकल्प करने वालों की सोच में समग्रता और हृदय में जीवंतता और निर्मलता का होना जरूरी है। नदियों को उनका मूल प्रवाह और गुणवत्ता लौटाना बरस-दो बरस का काम नहीं हो सकता, पर संकल्प निर्मल हो; सोच समग्र हो; कार्य-योजना ईमानदार और सुस्पष्ट हो, सातत्य सुनिश्चित हो, तो कोई भी पीढ़ी अपने जीवन-काल में किसी एक नदी को मृत्यु शय्या से उठाकर उसके पैरों पर चला सकती है।

एक बात और। धन की कमी इसमें कभी बाधा नहीं बनती। आजादी के दीवानों ने कभी पैसे की कमी का रोना नहीं रोया। जब जरूरत हुई, जुट गया। चाहे किसी मैली नदी को साफ करना हो या सूखी नदी को 'नीले सोने' से भर देना हो, सिर्फ धन से यह संभव भी नहीं होता। ऐसे प्रयासों को धन से पहले धुन की जरूरत होती है। नदी को प्रोजेक्ट बाद में, वह कशिश पहले चाहिए, जो पेटजाये को मां के बिना बेचैन कर दे। इस बात को भावनात्मक कह कर हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। कालीबेई की प्रदूषण-मुक्ति का संत-प्रयास और अलवर के सत्तर गांवों द्वारा अपने साथ-साथ अरवरी नदी का पुनरोद्धार इस बात के पुख्ता प्रमाण हैं।

नदी से संबंधित समग्र सोच यह है कि झील, ग्लेशियर आदि मूल स्रोत हो सकते हैं, लेकिन नदी के प्रवाह को जीवन देने का असल काम नदी बेसिन की छोटी-बड़ी

वनस्पतियां और उससे जुड़ने वाली नदियां, झरने, लाखों तालाब और बरसाती नाले करते हैं। इन सभी को समृद्ध रखने की योजना कहां है? हर नदी बेसिन की अपनी एक अनूठी जैव विविधता और भौतिक स्वरूप होता है। ये दोनों ही मिल कर नदी विशेष के पानी की गुणवत्ता तय करते हैं। नदी का ढाल, तल का स्वरूप, उसके कटाव, मौजूद पत्थर, रेत, जलीय जीव-वनस्पतियां मिल कर तय करते हैं कि नदी का जल कैसा होगा। नदी प्रवाह में स्वयं को साफ कर लेने की क्षमता का निर्धारण भी ये तत्त्व ही करते हैं। सोचना चाहिए कि एक ही पर्वत चोटी के दो ओर से बहने वाली गंगा-यमुना के जल में क्षार तत्त्व की मात्रा भिन्न क्यों है।

ऊर्जा, सिंचाई और जल परिवहन के नाम पर हम नदियों के प्रवाह मार्ग में अवरोध-दर-अवरोध खड़े करने की परियोजनाएं पेश करते रहें, बाढ़-मुक्ति के नाम पर तटबंध बनाते रहें, नदी तटबंधों को एक्सप्रेस-वे में बदलते रहें, गाद-सफाई के नाम पर मालती और उज्जयिनी जैसी नदियों के तल को जेसीबी लगा कर छील दें, उनके ऊबड़-खाबड़ तल को समतल बना दें, प्रवाह की तीव्रता के कारण मोड़ों पर स्वाभाविक रूप से बने आठ-आठ फुट गहरे कुंडों को खत्म कर दें, वनस्पतियों को नष्ट कर दें और उम्मीद करें कि नदी में प्रवाह बचेगा। उम्मीद करें कि अमेठी की उज्जयिनी जैसी छोटी-सी नदी, संजय गांधी अस्तपताल व एचएएल के बहाए जहर को स्वयं साफ कर लेगी, यह संभव नहीं है।

ऐसी बेसमझी को नदी पर सिर्फ स्टॉप डैम बना कर नहीं सुधारा जा सकता। कानपुर की पांडु के पाट पर इमारत बना लेना, पश्चिमी उत्तर प्रदेश की हिंडन को औद्योगिक कचरा डंप करने का साधन मान लेना और मेरठ की काली नदी में बूचड़खानों के मांस-मज्जा और खून बहाना और नदी को एक्सप्रेस-वे नामक तटबंधों से बांध देना - नदियों को नाला बनाने के काम हैं। समझना चाहिए कि अविरलता ही नदी का गुण होता है। यह गुण लौटाने के लिए नदी को उसका प्राकृतिक स्वरूप लौटाना चाहिए। नालों को वापस नदी बनाना चाहिए।

जैव विविधता लौटाने के लिए नदी के पानी की जैव ऑक्सीजन मांग घटानी होगी, ताकि नदी को साफ

करने वाली मछलियां, मगरमच्छ, घड़ियाल और जीवाणुओं की एक बड़ी फौज इसमें जिंदा रह सके। नदी को उसकी रेत और पत्थर लौटाने होंगे, ताकि नदी सांस ले सके। कब्जे रोकने होंगे, ताकि नदियां आजाद बह सकें। नहरी सिंचाई पर निर्भरता कम करनी होगी। नदी से सीधे सिंचाई अक्तूबर के बाद प्रतिबंधित करनी होगी, ताकि नदी के ताजा जल का कम से कम दोहन हो। भूजल पुनर्भरण के लिए तालाब, सोखता पिट, कुंड और अपनी जड़ों में पानी संजोने वाली पंचवटी की एक पूरी खेप ही तैयार करनी होनी होगी, भूजल को निर्मल करने वाले जामुन जैसे वृक्षों को साथी बनाना होगा। इस दृष्टि से प्रत्येक नदी जलग्रहण क्षेत्र की एक अलग प्रबंध तथा विकास योजना बनानी होगी।

नदी जलग्रहण क्षेत्र के विकास की योजना शेष हिस्से जैसी नहीं हो सकती। झारखंड, बुंदेलखंड, उत्तराखंड व अन्य हिम क्षेत्रों को सामने रखें। ये सभी क्षेत्र, भारत की आबोहवा को दुरुस्त रखने वाले जरूरी प्राकृतिक टापू हैं। उदाहरण के तौर पर बुंदेलखंड की विकास योजना, एक तीर्थ और वनक्षेत्र के रूप में हो सकती है। धरती से सिर्फ ज्यादा से ज्यादा उपजाने की जुगत लगाने से सूखे का दीर्घकालिक समाधान नहीं हो सकता।

बुंदेलखंडवासियों के आजीविका प्रबंधन की दृष्टि से खेती और खनन से ज्यादा मवेशी, वनोत्पाद, तीर्थ और हस्तकौशल के कुटीर उद्योगों को प्राथमिकता पर आना चाहिए। आज हम धन की मांग करने वाले जिंदगी के सारे सपनों की पूर्ति धरती और प्रकृति की सांस खींच कर करने में लगे हैं। यह ज्यादा दिन नहीं चलेगा। नदी जलग्रहण क्षेत्र में रोजगार के कुटीर और अन्य वैकल्पिक साधनों को लेकर पुख्ता कार्य योजना चाहिए ही।

आज भारत की सरकारें नदियों पर कार्य-योजनाएं तो बना रही हैं, नदी प्रबंधन का सिद्धांत आज तक नहीं बनाया। समग्र सोच का एक विषय यह भी है। सिद्धांत पहले बनाने चाहिए, कार्य-योजना बाद में। सिद्धांत कार्य-योजना का ऐसा मूलाधार होते हैं, जिनका पालन हर हाल में करने से ही कार्य-योजना अपना लक्ष्य पाने में ईमानदार भूमिका अदा कर पाती है। वह सिद्धांत ही क्या, जो व्यवहार में लागू न हो सके।

नदी में से कब-कहां और कितना रेत-पत्थर-पानी निकालने की अनुमति हो, इसका कोई तय सिद्धांत होना चाहिए कि नहीं? नदी निर्मलता का सिद्धांत क्या हो? नदी को पहले गंदा करें और फिर साफ करें, या नदी गंदी ही न होने दी जाए? कोई नाला कचरे को पहले ढोकर नदी तक लाए, हमारे संयंत्र फिर उसे साफ करें

या कचरे का निस्तारण कचरे के मूल स्रोत पर ही किया जाए? नदी भूमि को हरित क्षेत्र बना कर नदी को आजाद बहने दिया जाए या 'रिवरफ्रंट व्यू डेवलपमेंट', एक्सप्रेस वे और औद्योगिक कॉरीडोर के बीच में फंस कर मरने के लिए छोड़ दिया जाए?

वर्ष 1932 में पहली बार कमिश्नर हॉकिन्स ने बनारस के नाले को गंगा में मिलाने का एक आदेश दिया। मालवीयजी की असहमति के बावजूद वह लागू हुआ। इससे पहले नदी में नाला मिलाने का कोई उदाहरण शायद ही हो। क्या हमें तय नहीं करना चाहिए कि पहले कचरे को नदी में मिलने ही नहीं दिया जाएगा, कचरे का निस्तारण उसके मूल स्रोत पर ही किया जाएगा? आज हम कचरा-जल नदी में और ताजा जल नहरों में बहा रहे हैं। यह सिद्धांत विपरीत है। इसे उलट दें। ताजे स्वच्छ जल को नदी में बहने दें और कचरा-जल को शोधन के बाद नहरों में जाने दें। यह क्यों नहीं हो सकता?

सामुदायिक व निजी सेप्टिक टैंकों पर पूरी तरह कामयाब मलशोधन प्रणालियां भारत में ही मौजूद हैं। लखनऊवासी अपना मल-मूल सुलतानपुर-जौनपुर को सौंपते हैं, दिल्लीवासी बृज को। कोलकोतावासी अपना मल नदी में नहीं बहाते। हजारों तालाबों के जरिए वे आज भी निर्मल कथा ही लिख रहे हैं। बंगलुरु के हनी शर्कर्स सेप्टिक टैंक से मल निकाल कर कंपोस्ट में तब्दील कर नदी भी बचा रहे हैं और खेती भी। भारत सरकार के रक्षा अनुसंधान विकास संगठन द्वारा ईजाद मल की जैविक निस्तारण प्रणाली को देखें, पता चलेगा कि हर नई बसावट, सोसाइटी प्लैट्स तथा व्यावसायिक परिसरों आदि को सीवेज पाइपलाइन से जोड़ने की जरूरत ही कहां है? लेकिन शासन-प्रशासन को है; क्योंकि ये पाइपलाइनें उन्हें सीवेज देखरेख के नाम पर ग्राहक से ढेर सारा पैसा वसलूने का मौका देती हैं।

पाइपलाइनों से जुड़े सीवेज के सौ फीसद शोधन पर अभी तक सरकार गंभीर नहीं हुई है। अभी वह नदी में निवेश और शौच में मुनाफा देख रही कंपनियों का रूट-प्लान बनाने में व्यस्त है। उनकी सोच समझाइश से ज्यादा साधी जा रही है नोट से। नोट देकर साधना, सामाजिक खोट का प्रतीक है। समाज के पास वोट हैं। जन, जीव और प्रकृति के बजाय पैसा, पद और पाटी को प्राथमिकता पर रखने वाले नेताओं को मिलने वाले वोट का रास्ता बंद करें। वे खुद-ब-खुद सध जाएंगे। रही बात प्रदूषण और प्रदूषकों को बांधने की, समाज की समग्र सोच और उसे कार्यरूप में उतारने का संकल्प, दोनों को बांध सकता है। अविरलता को लक्ष्य बनाना होगा। निर्मलता का मार्ग खुद-ब-खुद प्रशस्त हो जाएगा।

साभार : जनसत्ता

रोहित वेमुला को क्रूर कायरता ने मारा

■ अपूर्वानंद

रोहित वेमुला ने आत्महत्या के पहले लिखे अपने पत्र में अपने निर्णय के लिए किसी को दोषी नहीं ठहराया है।

हैदराबाद सेंट्रल यूनिवर्सिटी के कुलपति ने इस पर गहरी हैरानी जताई है। उन्हें समझ नहीं आ रहा कि रोहित ने आत्महत्या क्यों की। उनके इस आश्चर्य में कोई अपराध बोध नहीं है, उन्हें नहीं लग रहा कि इस मौत में उनकी जिम्मेदारी भी हो सकती है।

अट्टाइस साल के पीएचडी छात्र रोहित पिछले कई दिनों से खुले आसमान के नीचे सो रहे थे, क्योंकि हैदराबाद सेंट्रल यूनिवर्सिटी के अधिकारियों ने उन्हें और उनके चार साथियों को हॉस्टल से निकाल दिया था।

उनका प्रवेश विश्वविद्यालय के हर सार्वजनिक स्थल पर प्रतिबंधित कर दिया गया था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) के एक सदस्य ने इन छात्रों पर मारपीट करने का आरोप लगाया था।

यूनिवर्सिटी की पहली जांच में यह आरोप बेबुनियाद पाया गया। यह नोट किया गया कि जिसने आरोप लगाया है, उस पर हमले का कोई सबूत नहीं, जख्म का निशान नहीं, इसलिए आरोप साबित नहीं होता।।

लेकिन जिस कुलपति के कार्यकाल में रोहित और उनके साथियों को आरोपमुक्त किया गया, उनके जाने और नए कुलपति के आने के बाद बिना कोई नई वजह बताए, बिना किसी नई जांच के, इस फैसले को उलट दिया गया। रोहित और उनके मित्रों के लिए हॉस्टल और अन्य सार्वजनिक जगहें प्रतिबंधित कर दी गईं।

आखिर रोहित का अपराध क्या था? वे अम्बेडकर स्टूडेंट्स एसोसिएशन के सदस्य थे। इस संगठन ने पिछले दिनों यूनिवर्सिटी में 'मुज़फ्फरनगर बाकी है' नाम की एक फिल्म के प्रदर्शन के दौरान हुए हमले के विरोध में एक जुलूस निकाला था।

उसके पहले अंबेडकर स्टूडेंट्स एसोसिएशन ने याकूब मेमन की फाँसी के मामले पर बहस छेड़ी थी और मृत्युदंड का विरोध किया था। इस कारण इस संगठन को राष्ट्रविरोधी ठहराया जा रहा था।

इस बीच, भारतीय जनता पार्टी के नेता और केंद्र सरकार में श्रम-रोज़गार राज्य मंत्री बंडारू दत्तात्रेय ने मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी को एक खत लिखा जिसमें उन्होंने यूनिवर्सिटी को राष्ट्र विरोधियों का अड्डा बताते हुए हस्तक्षेप का सुझाव दिया था।

एक स्थानीय नेता ने भी अपनी शिकायत दर्ज कराई और नए

कुलपति के नेतृत्व में विश्वविद्यालय की कार्यपरिषद ने रोहित और पांच छात्रों को दंडित करने का निर्णय लिया।

यह क्या इत्तफाक भर है कि ये पांचों दलित हैं? क्या यह भी इत्तफाक है कि इनके जिस काम के लिए इन्हें राष्ट्रविरोधी ठहराया गया, वह दलितों के मुद्दे को लेकर न था, बल्कि मुसलमानों के अधिकार से जुड़ा था?

क्या इसमें कोई शक है कि रोहित की मौत के लिए वह नहीं, बल्कि हमारी, यानी अकादमिक समुदाय की क्रूर कायरता जिम्मेदार है?

क्या यह कायरता नहीं थी जिसने हैदराबाद विश्वविद्यालय के नए कुलपति और उनकी कार्यपरिषद को 'राष्ट्रवादी' दबाव के आगे घुटने टेकने को मजबूर किया?

क्या यह कायरता न थी कि अपनी शांति के लिए उन्होंने पांच सबसे कमजोर तबके के नौजवानों के सामाजिक बहिष्कार जैसा निर्णय किया?

रोहित वेमुला खुद को मात्र दलित मानने से इनकार करते हैं। वे विज्ञान-लेखक बनना चाहते थे। उन्हें पहले से दी हुई पहचानों की कैद में घुटन होती थी। वे सितारों के बीच गर्दिश करना चाहते थे। सितारों की सैर पर जाना चाहते थे।

रोहित गलत जगह पर थे। विश्वविद्यालय अब उनकी तरह के ख्यालों की उड़ान भरने वालों के लिए मुनासिब जगह नहीं।

अब यह अपने करियर की हिफाजत करते हुए, अपनी सहूलियतों को वेतन आयोगों के जरिए बढ़ाते हुए सुरक्षित जीवन जीने वालों की पनाहगाह है। यह अपनी भाषा, जाति, धर्म के पिंजरे में सुरक्षित रहने वालों की शरणस्थली है।

यह मुमकिन है कि रोहित के इस अंतिम पत्र का इस्तेमाल उन सबको बचाने के लिए होगा जो उन हालात के लिए जवाबदेह हैं, जिन्होंने रोहित को आत्महत्या की ओर धकेला।

राष्ट्रवादी इस पत्र का इस्तेमाल उन्हें शर्मिंदा करने के लिए भी कर सकते हैं जो ऐसी हर घटना के लिए असहिष्णुता को जिम्मेदार ठहराते हैं। यह बताने के लिए कि कैसे अपनी मौत के लम्हे में भी रोहित ने देश की लाज रख ली, किसी पर आरोप नहीं लगाया।

रोहित ने अपील की है कि उसकी मौत का सामना शांति और धीरज से किया जाए।

वजह साफ है जो रोहित को खुदकुशी की ओर ले गई, वो है 'राष्ट्रवादी दहशत' के आगे शिक्षित समुदाय का आत्मसमर्पण।

साभार : बीबीसी

पाकिस्तान में भगत सिंह साझी विरासत सहेजने की क़वायद

■ सुधीर विद्यार्थी

पिछले कुछ अरसे से पाकिस्तान की धरती पर शहीदे-आज़म भगतसिंह को याद किया जा रहा है। यह हमारे लिए अत्यंत सुखद है। भगतसिंह को उनके दो साथियों राजगुरु और सुखदेव के साथ लाहौर की सेंट्रल जेल में 23 मार्च, 1931 को ब्रिटिश हुकूमत ने फांसी पर चढ़ा दिया था। लाहौर षड्यंत्र केस के नाम से हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ के उनके साथी क्रांतिकारियों पर मुकदमा इसी शहर में चला था। यहीं उन्होंने चंद्रशेखर आजाद के नेतृत्व में लाला लाजपतराय की लाठी प्रहार से हुई मृत्यु का बदला लेने के लिए अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर सांडर्स पर गोलियां चलाई थीं। उनका जन्म भी इसी पंजाब प्रांत में लायलपुर के बंगा गांव में हुआ था। देश विभाजन के पश्चात यह हिस्सा पाकिस्तान में चला गया और लायलपुर का नाम बदलकर फ़ैसलाबाद हो गया। भगतसिंह का पैतृक घर भारत के पंजाब प्रांत के नवांशहर का खटकड़कलां गांव है, जहां प्रतिवर्ष इस शहीद की स्मृति में मेला लगता है।

भगतसिंह के जन्मस्थल लायलपुर (अब पाकिस्तान का फ़ैसलाबाद) के गांव बंगा तक नंबर 105 की ओर जाने वाली सड़क का नाम 'भगतसिंह रोड' है। इस सड़क का नामकरण फ़रहान खान ने किया था, जो सेवानिवृत्त तहसीलदार हैं। उनकी उम्र अब 85 के आस-पास होगी। लाहौर में भगतसिंह के गांव की तरफ़ जो सड़क घूमती है, वहां भगतसिंह की एक तस्वीर लगी हुई है। पाकिस्तान के कुछ बुद्धिजीवी 'सांझे लोग' नाम से एक वेबसाइट चलाते हैं, जिस पर भगतसिंह की जिंदगी का ब्योरा दर्ज है। पाकिस्तानी कवि और लेखक अहमद सिंह ने पंजाबी भाषा में 'केड़ी मां ने जन्मया भगतसिंह' लिखी है। सईदा दीप का उद्देश्य बैडला हॉल को 1947 का रूप देना था, जब यह एक महत्वपूर्ण शिक्षा केंद्र की तरह जाना जाता था। यह कभी पंजाब कांग्रेस का मुख्यालय हुआ करता था। इसमें स्थापित नेशनल कॉलेज में ही भगतसिंह ने शिक्षा पाई थी। यह इमारत अब जर्जर हो चुकी है। फिर भी यह हमारी साझी विरासत और मुक्ति-संघर्ष का अनोखा स्मारक है। यहां लाहौर के बैडला हॉल को भी एक ऐसे संग्रहालय का दर्जा दिए जाने की कोशिशें की जा रही हैं, जो भगतसिंह और स्वतंत्रता आंदोलन को समर्पित होगा। इस इंस्टीट्यूट का नाम परिवर्तित करने के साथ ही सईदा शादमान चौराहे का नाम भी भगतसिंह के नाम पर रखवाना

चाहती थीं, जहां भगतसिंह और उनके दो साथियों को फांसी पर लटकाया गया था। पाकिस्तान सरकार ने लाहौर सेंट्रल जेल को तुड़वा दिया था। अब वहां शादमान नाम से एक कॉलोनी स्थापित है। शादमान चौक वाले ट्रैफिक चौराहे पर ही भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसियां दी गई थीं। सईदा दीप ने इस संबंध में एक याचिका भी दायर की है। सईदा अपने छात्र जीवन से ही शहीदे-आज़म की प्रशंसक रही हैं। उन्होंने 'डेली टाइम्स' में स्पष्ट कहा भी था कि साल-दर-साल यहां भगतसिंह की अहमियत में कमी आई है, के शासन काल की रही है। जानने योग्य यह भी है कि उच्चतम न्यायालय के अधिवक्ता आबिद हसन मिंटी ने भी भगतसिंह से जुड़े इस संस्थान को पुराना गौरव लौटा देने के लिए काफी प्रयास किए। सईदा का सपना बंगा में शहीदे-आज़म का स्मारक बनाए जाने का है। उनके इस अभियान में वे लोग भी साझा करने को तैयार हैं, जो इस समय भगतसिंह के घर में रहते हैं। उन्होंने कहा है कि स्मारक बनाए जाने की स्थिति में वे मकान से कब्ज़ा छोड़ देंगे।

यह संयोग ही है कि जिस तारीख की लाहौर में भगतसिंह और उनके साथियों को फांसी पर लटकाया गया था, उसी तारीख को 1940 में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव किया था। अब पाकिस्तान में 23 मार्च को 'पाकिस्तान दिवस' मनाया जाता है, लेकिन तीनेक वर्ष पहले इस ऐतिहासिक दिवस पर वहां जो कुछ हुआ वह कुछ अलग ढंग का था। एकदम बदला-बदला नजारा। शादमान चौक पर 30 से ज्यादा लोग तेज धूप में घंटों प्रदर्शन करते रहे। इनमें सामाजिक कार्यकर्ता, फ़ैक्ट्री मजदूर, कुछ वामपंथी, अलग-अलग विश्वविद्यालयों के छात्रों के साथ कुछेक छोटे बच्चे भी थे। वे सब ज़िंदा हैं, भगतसिंह ज़िंदा हैं, 'वी सैल्यूट भगतसिंह', 'हर जुल्म का एक जवाब, इंकलाब ज़िंदाबाद' जैसे नारे लगा रहे थे। उनकी मांग भी वही थी यानी शादमान चौक को भगतसिंह चौक घोषित करो। वे बार-बार कह रहे थे कि अनेक वर्षों से उनकी यह मांग नहीं मानी जा रही है, ऐसे में उन्होंने स्वयं ही उस स्थान पर भगतसिंह चौक का साइन बोर्ड लगाने का फ़ैसला किया है। वे प्रदर्शनकारी वहां सूरज ढलने के बाद तक डटे रहे। फिर रात को उन्होंने मोमबत्तियां जलाकर मार्च निकाला। बेहद उत्साहित थे सब। वहां मौजूद सोनिया क़ादिर ने निर्भीकता से कहा कि 'पाकिस्तान में भगतसिंह के आदर्शों को फिर से ज़िंदा

करना बहुत ज़रूरी है। यहां लोग गरीबी में जी रहे हैं। धार्मिक कट्टरता की समस्या मुंह बाए खड़ी है। भगतसिंह की विरासत याद दिलाती है कि हम सभी इंसान हैं और हमें शोषण से मुक्त होना है।

23 मार्च, 2010 को लाहौर में लापता व्यक्तियों के मुद्दे पर एक सेमिनार आयोजित हुआ, जिसमें आमिर जलाल का कहना था कि 'भगतसिंह भी लापता हैं और अगर हमें खुद को खोजना है, तो हमें उन्हें भी खोजना होगा।' जलाल जैसे नौजवानों के इस कथन पर हमें ध्यान देना होगा कि 'यू.एस.एफ.' ने धर्मनिरपेक्षता, बहुलतावाद और लोकतंत्र जैसे मूल्यों का समर्थन किया। हमें अपनी प्रेरणा दूसरों के अलावा भगतसिंह के आदर्शों से भी मिली।

देश विभाजन के 52 वर्षों बाद जब पाकिस्तान में संभवतः पहली बार भगतसिंह की शहादत की बरसी मनायी गयी, जिसमें राजनीतिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, पत्रकारों, संस्कृतिकर्मियों और छात्रों ने बेहद अपनेपन से हिस्सेदारी करते हुए इस क्रांतिकारी शहीद को अपनी श्रद्धांजली अर्पित की। इससे पहले 23 मार्च को लाहौर में एलन बुड्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'रीजन इन रिवाॅल्ट' के उर्दू संस्करण के विमोचन समारोह का बड़ा भाग भगतसिंह की स्मृति को समर्पित था, जिसकी अध्यक्षता प्रख्यात उर्दू दैनिक 'जंग' के वरिष्ठ स्तंभकार और अनेक लोकप्रिय टी.वी. धारावाहिकों के लेखक मनु भाई ने की थी। पाकिस्तान के प्रतिष्ठित पाक्षिक 'जद्दोजहद' के संपादक मंजूर अहमद ने इस अवसर पर कहा था कि उन्हें आज इस बात पर शर्मिंदगी महसूस हो रही है कि वे उसी शहर कसूर के रहने वाले हैं, जिसके बाशिंदे गुलाम मोहम्मद ख़ान ने भगतसिंह और उनके दो साथियों के फांसी के दस्तावेज़ पर दस्तख़त किये थे, जब किसी दूसरे हिंदुस्तानी ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया था। आज पाकिस्तान में गुलाम मोहम्मद का कोई नामलेवा नहीं है, जबकि भगतसिंह को बुजुर्ग पीढ़ी बहुत प्यार और इज़्ज़त से याद करती है। यह भी जानने योग्य है कि 23 मार्च, 1931 की शाम को इन तीनों क्रांतिकारियों की फांसी के बाद उनके शरीर के टुकड़े करके सतलज के किनारे जलाते समय अंग्रेज़ी फ़ौजी अफ़सर जिस हिंदू पंडित और सिख ग्रंथी को ले गए थे, वह भी कसूर के ही रहने वाले थे। पाकिस्तान में भगतसिंह और उनके शहीद साथियों को जानने वाले आज बहुत कम हैं। मुझे यह भी बताया गया कि इस कार्यक्रम में भी वहां भगतसिंह की तस्वीर नहीं थी, लेकिन भारत से पहुंचे एक प्रतिनिधि के पास इस शहीद का एक छोटा चित्र था, जिसे बड़ा करके वहां लगाया गया था। पाकिस्तान में सिंधी शायर शेख़ अयाज़ ने 'इंस्टीट्यूट ऑफ़ सिंधियालॉजी' से प्रकाशित अपनी पुस्तक में भगतसिंह और उनके साथियों के फांसी पर चढ़ने से पहले के विचारों पर एक काव्यात्मक नाटक की रचना की।

भगतसिंह हमारा है तो तुम्हारा भी तो है लाहौरीयां दा। वर्ष

2007 में शहीद भगतसिंह के भांजे प्रो. जगमोहन सिंह ने पाकिस्तान की यात्रा की थी। वह शहीदे-आज़म की जन्मशती वर्ष था। उन्होंने भी बताया था कि पाकिस्तान के पंजाब प्रांत के तत्कालीन गवर्नर ने वादा किया था कि भगतसिंह को फांसी दिये जाने वाली जगह पर शहीद का स्मारक बनाया जाएगा, पर वह पूरा नहीं हुआ। पाक की धरती पर भगतसिंह का स्मारक बनाये जाने का सिलसिला टूट गया है। एक सरकारी समिति (पैनल) ने 'जमात-उद-दावा' (जे.यू.डी.) जैसे उग्रवादी संगठनों के कड़े विरोध को नज़रअंदाज़ करते हुए शादमान चौक का नाम भगतसिंह के नाम पर रखने का ऐलान कर दिया था, लेकिन जे.यू.डी. से जुड़े 'तहरीक-ए-हुरमत-ए-रसूल' ने गोल चक्कर को शहीदे-आज़म के नाम पर बनाने के विरोध में लाहौर हाइकोर्ट में एक याचिका दायर की, जिस पर न्यायाधीश नसीर सईद शेख़ ने पंजाब सरकार और लाहौर जिला प्रशासन से 29 नवम्बर, 2012 तक आपत्ति/जवाब मांगते हुए नाम बदले जाने पर रोक लगा दी। आतंकी संगठन इसका विरोध पहले ही कर रहे थे। याचिका दायर करने वाले स्थानीय व्यापारी ज़ाहिद बट्ट ने दावा किया था कि भारतीय खुफ़िया एजेंसी राॅ ने इस मुद्दे को उठाने के लिए 'भगतसिंह फाउंडेशन' को धन दिया है। उनका यह भी मानना था कि फाउंडेशन ने 'दिलकश लाहौर समिति' के साथ लॉबिंग की है। इसी समिति की ओर से गोल चक्कर का नाम भगतसिंह के नाम पर रखने की सिफ़ारिश आई है।

'जमात-उद-दावा' के नेता और 'तहरीक-ए-हुरमत-ए-रसूल' के प्रमुख मौलाना अमीर हम्ज़ा ने तो यहां तक कहा कि उनका संगठन किसी भी स्थान का नाम हिंदुओं, सिखों या ईसाइयों के नाम पर रखने की मंजूरी नहीं देगा। उनका कथन है कि पाकिस्तान एक इस्लामी देश है और ऐसे विचारों की सराहना नहीं की जा सकती है। 'जमात-उद-दावा' ने एक पत्र में कड़े शब्दों में जिला प्रशासन प्रमुख नूरूल अमीन मंगल और अन्य सरकारी अधिकारियों को एक हिंदू स्वतंत्रता सेनानी के नाम पर उस स्थान का नामकरण करने के खिलाफ़ चेतावनी दी। कार्यकर्ता तैमूर रहमान और सईदा दीप ने वकील यासिर लतीफ़ हमदानी के जरिये लाहौर हाईकोर्ट में दो आवेदन करते हुए याचिकाकर्ता के इस तर्क का उत्तर देने का प्रयास किया कि फ़व्वारा चौक का नाम भगतसिंह के नाम पर रखना 'पाकिस्तान के खिलाफ़ साज़िश' है। लेकिन अब भी मुल्क की एक बड़ी आबादी यह नहीं जानती कि भगतसिंह उनके लिए कुर्बान हो गए, जबकि उस क्रांतिकारी की तालीम लाहौर में ही हुई और इसी मिट्टी में वह खाक भी हो गए।

साभार : अहा ज़िंदगी

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए